त्रैमासिक
वेक-ज्योति
वर्ष ३४ अंक १

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित
हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-फरवरी-मार्च
★ १९९६ ★

प्रबन्ध संपादक तथा व्यवस्थापक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

वार्षिक २०/- | वर्ष ३४ अंक १ | एक प्रति ६/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ३००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९, २४९५९, २४११९

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१०६ वीं तालिका)

३८०४. श्री सोहनलाल यादव, जयपुर (असम)
३८०५. श्री भागीरथीजी रनदेर, नागपुर (महा.)
३८०६. श्री परमेश्वर पटेल, रायपुर
३८०७. डॉ० दिलीप देसाई, बड़ोदा (गुज.)
३८०८. सौ० सबरी पाल, नई दिल्ली
३८०९. श्री उमेश गोस्वामी, रायपुर
३८१०. डॉ० कोशेन्दु पारीक, रामपुर, कोटा (राज.)
३८११. श्री विवेक माथुर, उधमपुर, (जम्मू-काश्मीर)
३८१२. श्री डी० एन० शर्मा, सुन्दरनगर, रायपुर
३८१३. श्रीमती सरोज दुबे, सागर (म.प्र.)
३८१४. श्रीमती अर्चना मिश्रा, जुहू, बम्बई
३८१५. श्रीमती सावित्री दुबे, जुहू, बम्बई
३८१६. वीणा खुराना, जुहू, बम्बई
३८१७. श्रीमती अनुराधा मिश्रा, बम्बई
३८१८. श्री देवेश कुमार दुबे, कोरबा, बिलासपुर (म.प्र.)
३८१९. श्री कनु इस्माइल शेख, हरेगाँव, लातूर (महा.)
३८२०. श्री शेख अजमेर, हरेगाँव, लातूर (महा.)
३८२१. श्री एस. वी. बरबोड़े, लातूर (महा.)
३८२२. श्री सुशील चौमाल, झुंझुनू (राज.)
३८२३. श्री पवन कुमार गनेड़ीवाल, कलकत्ता
३८२४. मे. मीनाक्षी ट्रेडर्स, भुवनेश्वर (उड़ीसा)
३८२५. श्री जवाहर लाल साहू, नयापारा, रायपुर
३८२६. लायन राजकुमार भाटिया, दिल्ली
३८२७. श्रीरामकृष्ण आश्रम, घमापुर, जबलपुर (म.प्र.)
३८२८. बेबी ब्रह्मचारिणी, सूरत (गुज.)
३८२९. श्री एस. सी. जैन, भोपाल (म.प्र.)
३८३०. श्री ढेलूराम चन्द्राकर, सिसदेवरी, रायपुर
३८३१. श्री बी. प्रकाशचन्द्र जैन, मद्रास (तमिलनाडु)
३८३२. श्रीमती रुखमती बघेल, नयापारा, रायपुर
३८३३. श्री शान्तिभाई पटेल, फाफाडीह, रायपुर
३८३४. माता ज्योतिर्मयानन्द गिरि, भरूच, (गुज.)
३८३५. श्री शैलेश नरेन्द्र जोशी, इन्न्दौर (म.प्र.)
३८३६. डॉ. श्रीमती आशा पाण्डेय, रायगढ़ (म.प्र.)
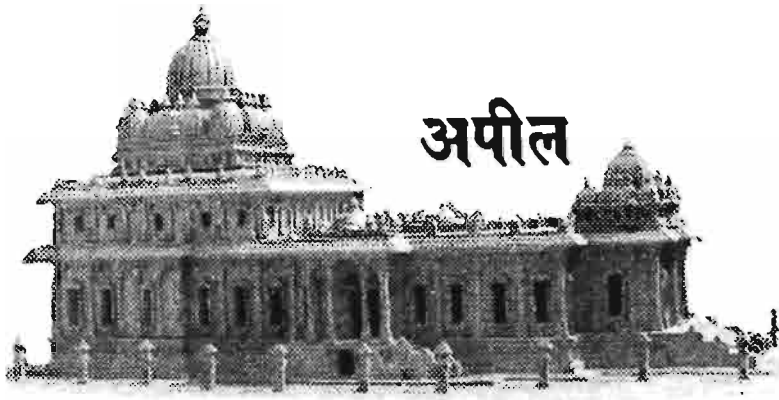
अपील

श्रीरामकृष्ण मठ
मयलापुर,
मद्रास - ६००००४

स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से १८९७ ई० में इस मठ की स्थापना हुई। अगले वर्ष यह अपने बहुमुखी सेवाकार्यों की शताब्दी मनाने जा रहा है। भक्तों एवं अनुरागियों की बहुत दिनों से इच्छा के रूपायन हेतु इस मठ में श्रीरामकृष्ण का एक भव्य मन्दिर बनाने का कार्य आरम्भ हुआ है। समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण का जीवन तथा सन्देश जैसे वर्तमान युग के सभी धर्मों के अनुयायियों के लिये प्रेरणाकेन्द्र है, वैसे ही उनका यह मन्दिर भी एक सार्वभौमिक उपासना का स्थान होगा।

श्रीरामकृष्ण के अन्य मन्दिरों तथा परम्परागत दक्षिण भारतीय स्थापत्य के सम्मिश्रण से बन रहे इस मन्दिर में लगभग १००० भक्त एक साथ बैठकर प्रार्थना तथा ध्यान कर सकेंगे। ग्रैनाइट पत्थर से बननेवाले इस मन्दिर पर लगभग चार करोड़ रुपयों की लागत आयेगी।

रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने १ दिसम्बर, १९९४ ई० को मन्दिर की आधारशिला रखी। निर्माण-कार्य आरम्भ हो चुका है और सन्तोषजनक रूप से प्रगति पर है।

इस विराट् पुनीत कार्य में समाज के सभी स्तर के लोगों की शुभेच्छा तथा सहयोग की अपेक्षा है। उदारतापूर्वक दान के द्वारा इस परियोजना में हाथ बँटाने के लिए हम आप सभी को आमंत्रित करते हैं। आपका दान कृतज्ञता के साथ स्वीकृत एवं सूचित किया जायगा। रेखांकित चेक या ड्राफ्ट RAMAKRISHNA MATH, MADRAS' के नाम से बनवाकर भेजे जा सकते हैं। ये दान धारा ८०- G के अन्तर्गत आयकर से मुक्त होंगे।

स्वामी गौतमानन्द
अध्यक्ष

सम्पर्कसूत्र : श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास-4
Phone : 494 1959; Fax : 493 4589

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा० लि०, बजरंगनगर, रायपुर
कम्पोजिंग : लेसरपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकरनगर, रायपुर

पुण्य से भी दुःख

न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्।।

अन्वय – संसार-उत्पन्नं (इस संसार में अनुष्ठित) चरितं (सकाम कर्मों में) कुशलं (कोई कल्याण) न अनुपश्यामि (मैं नहीं देख पाता हूँ), पुण्यानां (पुण्य कर्मों का) विपाकः (फल) विमृशतः (विचार करने पर) मे (मेरे चित्त में) भयं (भय) जनयति (उत्पन्न होता है), महद्भिः (अति उत्तम) पुण्य-ओघैः (पुण्यों के द्वारा) चिर-परिगृहीताः (चिरकाल से संग्रहित) विषयाः च (भोगों का समूह भी) विषयिणां (विषयासक्त लोगों को) व्यसनं (विपत्ति, दुःख) दातुम्-इव (प्रदान करने के लिए ही) महान्तः (वृद्धि को) जायन्ते (प्राप्त होते हैं)।

अर्थ – इस अनादि संसार चक्र में मैं फल के निमित्त किये गये कर्मों में कोई कल्याण नहीं देख पा रहा हूँ। पुण्य कर्मादि के फल भी अनित्य होने के कारण मेरे मन में भय का ही संचार करते हैं। विषयासक्त लोगों के जीवन में महापुण्य द्वारा संचित दीर्घकालव्यापी सुखभोग भी इतनी तीव्र गति से बढ़ते हैं कि अन्ततः वे अशेष दुःख का ही कारण बनते हैं।

- भर्तृहरिकृत **वैराग्यशकतम्, ११**

तरुणों को आह्वान

'विदेह'

– १ –

(अड़ाना-कहरवा)

जागो जवान! उठो जवान! सुनो विवेकानन्द का आह्वान ।
देशसेवा यज्ञ में बलिदान कर दो देह-प्राण।।
यह धरा दुख से सुलगती, आर्तनाद विलाप करती,
पीड़ितों के ताप हरने, त्याग दो निज स्वार्थ-मान।।
मोहनिद्रा छोड़ जागो, अलसता अज्ञान त्यागो,
चल पड़ो अविराम पथ पर, कर्म करने अति महान।।
आत्मविद्या अस्त्र लेकर, जीवसेवा शस्त्र लेकर,
निज पराक्रम व्यक्त कर दो, हिल उठे सारा जहान।।

– २ –

(मालकौंस-कहरवा)

उठो उठो अमृतसन्तान! जागो तज प्रमाद-अज्ञान।
आज माँगती भारतमाता, अपने पुत्रों का बलिदान।
दम्भ-द्वेष-भय-स्वार्थ त्यागकर, करने होंगे कर्म महान।।
अन्तर में है सुप्त तुम्हारे, सर्व शक्तियाँ बीज समान।
दिव्य तेज के तुम अधिकारी, करो वत्स निज बल का ध्यान।।
बाट जोहती दुनिया सारी, आशा भरी दृष्टि से जान।
भारत का आध्यात्म-दीप ले, आलोकित कर दो विज्ञान ।।
दीन दलित जन को देना है, धर्म-अर्थ-विद्या का दान।
सबको ईश्वर रूप जानकर, अर्पित करो प्रीति-सम्मान।।
उदयमान रवि पूर्वांचल में, फैल रहा है स्वर्णविहान।
आओ हम सब मिलकर गाये, हिन्द जागरण का नवगान।।

(जी.जी. नरसिंहाचारियर को)

शिकागो,
११ जनवरी, १८९५

प्रिय जी.जी.

तुम्हारा पत्र अभी मिला। ...अन्य धर्मों की अपेक्षा ईसाई धर्म को महत्तर प्रमाणित करने के लिए ही धर्ममहासभा का आयोजन हुआ था, परन्तु इसके बावजूद तत्त्वज्ञान से पुष्ट हिन्दुओं का धर्म, फिर भी अपने पद का समर्थन करने में सफल हुआ। डॉक्टर बैरोज और उनकी तरह के लोग, जो कि बड़े कट्टर हैं, उनसे मैं सहायता की आशा नहीं रखता। ...भगवान् ने मुझे इस देश में बहुत से मित्र दिये हैं और उनकी संख्या बढ़ती ही जा रही है, जिन लोगों ने मुझे हानि पहुँचाने का प्रयास किया है, ईश्वर उनका कल्याण करें। ...मैं लगातार न्यूयार्क और बोस्टन के बीच यात्रा करता रहा। इस देश के ये ही दो बड़े केन्द्र हैं, जिनमें से बोस्टन को यहाँ का मस्तिष्क कहा जा सकता है और न्यूयार्क को मनीबैग। दोनों ही स्थानों में मुझे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। मैं समाचार-पत्रों के विवरणों के प्रति उदासीन हूँ, इसलिए तुम मुझसे यह आशा न करो कि उनमें से किसी के विवरण मैं तुम्हें भेजूँगा। काम आरम्भ करने के लिए थोड़े से शोर की आवश्यकता थी, वह ज़रूरत से ज्यादा हो चुका है।

मैं मणि अय्यर को लिख चुका हूँ और तुम्हें भी निर्देश दे चुका हूँ, 'अब तुम मुझे दिखाओ कि तुम क्या कर सकते हो।' अब व्यर्थ की बकवास का नहीं, असली काम का समय है; हिन्दुओं को अपनी बातों का काम से समर्थन करना है, यदि वे ऐसा नहीं कर सकते, तो वे किसी काम के नहीं, बस इतनी सी बात है। अमेरिकावाले तुम लोगों को तुम्हारी सनकों के लिए धन नहीं देंगे। और क्यों दें भला? जहाँ तक मेरा सवाल है, मैं तो सत्य की शिक्षा देना चाहता हूँ, चाहे वह यहाँ हो या कहीं और।

लोग तुम्हारे या मेरे अनुकूल या विरुद्ध क्या कहते हैं, भविष्य में इस बात पर ध्यान न दो। काम करो, सिंह बनो, प्रभु तुम्हारा कल्याण करे। मैं मृत्युपर्यन्त निरन्तर काम करता रहूँगा और मृत्यु के बाद भी संसार की

भलाई के लिए काम करता रहूँगा। सत्य का प्रभाव असत्य की अपेक्षा अनन्त है; और उसी तरह अच्छाई का भी। यदि तुममें ये गुण हैं, तो उनकी आकर्षण-शक्ति से ही तुम्हारा मार्ग साफ हो जायेगा।

थियोसॉफिस्टों से मेरा कोई सम्पर्क नहीं है। और जज मेरी सहायता करेंगे? हुँह! ...सहस्रों सज्जन मेरा सम्मान करते हैं और तुम यह जानते हो; इसलिए भगवान पर भरोसा रखो। इस देश में धीरे धीरे ऐसा प्रभाव डाल रहा हूँ, जो समाचारपत्रों के लाख ढिंढोरा पीटने से भी नहीं हो सकता था। यहाँ के कट्टरपंथी इसे महसूस करते हैं, पर कुछ कर नहीं सकते। यह है चरित्र का प्रभाव, पवित्रता का प्रभाव, सत्य का प्रभाव, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव। जब तक ये गुण मुझमें हैं, तब तक तुम्हारे लिए चिन्ता का कोई कारण नहीं; कोई मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा। यदि वे प्रयत्न करेंगे, तो भी असफल रहेंगे। ऐसा भगवान् ने कहा है। ...सिद्धान्त और पुस्तकों की बातें बहुत हो चुकीं। 'जीवन' ही उच्चतम वस्तु है और जनता का हृदय स्पन्दित करने के लिए यही एकमेव मार्ग है — इसमें व्यक्तिगत आकर्षण होता है। ...दिन-प्रतिदिन भगवान् मेरी अन्तर्दृष्टि को तीव्र से तीव्रतर करता जा रहा है। काम करो, काम करो, काम करो। ...व्यर्थ की बकवास रहने दो; जीवन की अवधि अत्यन्त अल्प है और यह झक्की तथा कपटी मनुष्यों की चर्चा में बिताने के लिए नहीं है।

हमेशा याद रखो कि प्रत्येक राष्ट्र को अपनी रक्षा स्वयं करनी होगी। दूसरों से सहायता की आशा न रखो। कठिन परिश्रम करके यहाँ से मैं कभी कभी थोड़ा सा रुपया तुम्हारे काम के लिए भेज सकूँगा; परन्तु इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कर सकता। यदि तुम्हें उसी के आसरे रहना है, तो काम बन्द कर दो। यह भी समझ लो कि मेरे विचारों के लिए यह एक विशाल क्षेत्र है और मुझे इसकी परवाह नहीं है कि यहाँ के लोग हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, या ईसाई। जो ईश्वर से प्रेम करता है, मैं उसी की सेवा में सदैव तत्पर रहूँगा।

... मुझे चुपचाप शान्तिपूर्वक काम करना अच्छा लगता है और प्रभु हमेशा मेरे साथ है। यदि तुम मेरे अनुगामी बनना चाहते हो, तो पूर्णतः निष्कपट होओ, पूर्ण रूप से स्वार्थत्याग करो, और सबसे बड़ी बात यह है कि पूर्ण रूप से पवित्र बनो। मेरा आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ है। इस

अल्पायु में परस्पर प्रशंसा का समय नहीं है। संघर्ष समाप्त हो जाने के बाद किसने क्या किया, इसकी हम तुलना और एक-दूसरे की यथेष्ट प्रशंसा कर लेंगे। लेकिन अभी बातें न करो; काम करो, काम करो, काम करो! मैंने तुम्हारा भारत में किया हुआ कोई स्थायी काम नहीं देखा – मैं तुम्हारा स्थापित किया हुआ कोई केन्द्र नहीं देखता हूँ, न कोई मन्दिर या सभागृह ही देखता हूँ। मैं किसी को तुम्हें सहयोग देते भी नहीं देख रहा हूँ। बातें, बातें, बातें! यहाँ इसकी कमी नहीं है। 'हम बड़े हैं!', 'हम बड़े हैं!' – सब बकवास। हम लोग जड़बुद्धि हैं, और यही तो हैं हम। यह नाम और यश की प्रबल आकांक्षा और अन्य सब पाखंड – ये सब मेरे लिए क्या मायने रखते हैं? मुझे उनकी क्या परवाह? मैं सैकड़ों को परमात्मा के निकट आते हुए देखना चाहता हूँ। तुम उन्हें ढूँढ़ निकालो। तुम मुझे केवल नाम और यश देते हो। नाम और यश को छोड़ो, काम में लगो, मेरे वीरो, काम में लगो। मेरे भीतर जो आग जल रही है – उसके संस्पर्श से अभी तक तुम्हारा हृदय अग्निमय नहीं हो उठा, तुमने अभी तक मुझे नहीं पहचाना। तुम आलस्य और सुख-भोग की लकीर पीट रहे हो। आलस्य का त्याग करो, इहलोक और परलोक के सुखभोग को दूर हटाओ। आग में कूद पड़ो और लोगों को परमात्मा की ओर ले आओ।

मेरे भीतर जो आग जल रही है, वही तुम्हारे भीतर जल उठे, तुम अत्यन्त निष्कपट बनो, संसार के रणक्षेत्र में तुम्हें वीरगति प्राप्त हो – यही मेरी निरन्तर प्रार्थना है।

विवेकानन्द

पु. आलासिंगा, किडी, डॉक्टर, बालाजी और अन्य सभी से कहो कि राम, श्याम, हरि – कोई भी व्यक्ति हमारे पक्ष में या विरुद्ध जो कुछ भी कहे, उसको लेकर माथापच्ची न करें, वरन् अपनी समस्त शक्ति एकत्र कर कार्य में लगायें।

वि.

भय की वृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

भय मन की एक विचित्र वृत्ति है, जो व्यक्ति को कमजोर बना देती है। हमारे मन में न जाने कितने प्रकार का भय समाया रहता है। यदि हम विश्लेषण करके देखें तो अधिकांश प्रसंगों में हमारा भय निराधार ही साबित होता है।

कई लोग भूत से डरते हैं। मैंने अब तक भूत के भय की लगभग ५० घटनाएँ देखी होंगी, पर मैं दावे से कह सकता हूँ कि सभी-की-सभी निराधार थीं, वे महज काल्पनिक घटनाएँ थीं। वास्तव में व्यक्ति को कल्पना का भूत ही सताता है। जब हम अकेले किसी अँधेरे स्थान से गुजरते हैं, तो हमारा हृदय एक अज्ञात भय से धड़धड़ाने लगता है और हमें पत्थर या वृक्ष भी चलते-फिरते भूत के रूप में दिखाई देने लगता है। इसका कारण है – हम पर बचपन में डाले गये भय के संस्कार।

जब माताएँ छोटे बच्चों को किसी किसी काम से रोकना चाहती हैं, तो वे हौवा का डर दिखाती हैं। यह हौवा का डर हमारे भीतर इतना रूढ़ हो जाता है कि वही कालान्तर में हमारे महान् भय का कारण बनता है। हम यदि जंगल में से गुजर रहे हों, तो सतत वन्य पशुओं का भय हमें आक्रान्त करता रहता है। सामान्य दृष्टि से यह भय नितान्त स्वाभाविक सा प्रतीत होता है और कहा जा सकता है कि भला किसे जंगल में जंगली जानवरों का डर न होगा? पर प्रश्न यह है कि क्या डर हमें कमजोर नहीं बना देता? भय का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह मनुष्य को शक्तिहीन कर देता है। जो व्यक्ति सिंह-विक्रम प्रकट कर सकता था, वही भयाक्रांत होकर गीदड़ की तरह आचरण करने लगता है।

एक बार मैं लोनावाला में नहर के पार पर से चला जा रहा था। वह पार लगभग १८ इन्च चौड़ा है – सीमेंट-कांक्रीट का बना हुआ। जहाँ तक वह पार जमीन से ३-४ फुट ऊँचा था, वहाँ तक तो मैं मजे से चला गया, परन्तु कुछ दूर पर जब एक नाला आया, तो पार वहाँ पर जमीन से २५-३० फुट की ऊँचाई पर था। मैंने देखा कि अचानक मेरे पैर काँपने लगे। मैं चलने में असमर्थ हो गया – लगता कि अब गिरूँगा, तब गिरूँगा। लगभग ५० फुट की लम्बाई मैंने बड़ी कठिनाई से, बैठे बैठे पार

की, अब यह क्या था? उतने ही चौड़े पार पर मैं पहले मजे से चल रहा था, और कुछ समय बाद मैं चल नहीं पाया। यह भय था – गिरने का भय। भय ने मेरा विश्वास छीन लिया और मेरी शक्ति दब गयी।

एक बार मैं बण्डीपुर के वन में पर्यटन विभाग की जीप में सैर कर रहा था। इतने में लगभग २०० मीटर की दूरी पर एक इक्कड़ हाथी दीख पड़ा। हम लोगों को देखते ही उसने सूँड़ उठाकर हमारी तरफ दौड़ना शुरू किया। चालक इतना घबड़ा गया कि उसका सन्तुलन बिगड़ गया और जीप एक चट्टान से टकराते टकराते बची। यह भय है, जो हमारा सन्तुलन बिगाड़ देता है। हाथी तो बाद में मारता, पर चालक का भय तो हमारे लिए पहले ही काल बनने जा रहा था। क्या ऐसे भय को जीता जा सकता है? हाँ। मैं तब स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश के लगभग १५ मील ऊपर, वशिष्ठ गुफा में रहता था। बड़ा ही घना जंगल था तब। दिन में वन्य पशु दिखाई पड़ जाते थे। मुझे बहुत डर लगता था। उसके कारण मेरी साधना में भी व्यतिक्रम होता था। तब वहाँ के एक तपोनिष्ठ संन्यासी ने समझाते हुए कहा, "अच्छा बताओ, तुम क्यों डरते हो? मैं कोई उत्तर न दे पाया।" उन्होंने स्वयं उत्तर देते हुए कहा, "आखिर तुम्हें मृत्यु का ही तो डर है न? यही सोचते हो न, कि जंगली जानवर तुम्हें मार डालेंगे?" मेरे अन्दर कुछ बिजली सी कौंध गयी। मैंने उनसे कहा, "जी हाँ, डर का कारण यही मालूम होता है।" वे बोले, "ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि मौत जंगली जानवर के हाथों लिखी हो, तो कोई रोक नहीं सकता और न लिखी हो तो बाल भी बाँका नहीं हो सकता? ऐसा बारम्बार विचार उठाकर यदि तुम इस तर्क को अपने भीतर बैठा लोगे तो दिन में कई बार जो डर के मारे तुम मरते रहते हो, उससे तुम्हारी रक्षा हो जायगी।"

बात थी तो बहुत सरल और सामान्य-सी दिखनेवाली, पर उस तर्क ने धीरे धीरे मेरे भय को जीत लिया। कोई कह सकता है कि यह पलायनवाद है और इसको स्वीकार करने से मनुष्य असावधानी को प्रश्रय देगा, परन्तु मेरी समझ में वस्तुस्थिति उल्टी ही है। यही वर्तमान में सही ढंग से जीने की शिक्षा है।

रामकृष्ण - वचनामृत - प्रसंग

(*बावनवाँ प्रवचन*)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ / मिशन, बेलुड़मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ और बाद में श्रीरामकृष्ण योगाद्यान मठ, काकुड़गाछी, कलकत्ता में "श्रीरामकृष्ण-कथामृत" पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर "श्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग" के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहें हैं। हिन्दी रूपान्तरकार है श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। - सं.)

अवतार संग और अश्विनीकुमार

परिशिष्ट के दूसरे परिच्छेद में मास्टर महाशय ने अश्विनीकुमार दत्त की लिखा हुआ एक पत्र संलग्न किया है। अश्विनी बाबू मात्र कुछ दिन ठाकुर के पास आए थे, ठाकुर से उनका घनिष्ठ सम्पर्क नहीं हो पाया था। वे एक चिन्तनशील एवं कुशल लेखक थे। पत्र में उन्होंने बड़ी हृदयग्राही भाषा में ठाकुर का जो संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किया है, वह बड़ा अपूर्व है। उन्होंने ठाकुर को जिस दृष्टि से देखा था, उनकी निपुण लेखनी से वह किस तरह साकार हो उठा है, वह देखने योग्य है।

जो लोग लम्बे समय तक ठाकुर के संसर्ग में रहे, वे ही उन्हें अच्छी तरह से समझ सके हों, ऐसी बात नहीं । इस सन्दर्भ में स्वामी सारदानन्दजी महाराज की एक उक्ति उल्लेखनीय है। एक भक्त जब उनके पास आकर बोले, "महाराज, मैं साधुसंग करने आया हूँ।" तो उत्तर में उन्होंने कहा, "देखो, दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पास बारम्बार आनेवाले या काली मन्दिर के कर्मचारीगण अथवा आस-पड़ोस के लोग, जिन्होंने वर्षों तक प्रतिदिन ठाकुर का संग किया, उनके जीवन में भी कोई विशेष परिवर्तन हुआ दिखाई नहीं देता। और दूसरी तरफ उनके जीवन के अन्तिम चार वर्षों के दौरान या बहुत कम दिनों के लिए जो ठाकुर के पास आए – उनमें कोई तो शायद सप्ताह में एक बार आते और कोई कोई बहुत हुआ तो दो-चार महीना उनके पास रहे, वह भी लगातार नहीं, किन्तु उनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया, उन लोगों

के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, जिन्होंने ठाकुर के साथ वर्षों बिताये।" इसलिए साधु के पास जाने मात्र से अथवा उनके साथ कुछ काल घनिष्ठ भाव से निवास करने से ही साधुसंग के फल का निर्णय नहीं होता। स्पष्ट है कि पात्र तैयार न होने पर उसमें वस्तु को रखा नहीं जा सकता। ठाकुर के पास आकर जिन लोगों ने अपना जीवन धन्य किया, उनका आधार तैयार था। सम्भवतः इसीलिए उनकी कृपा की धारणा वे कर सके थे। जिनकी वह तैयारी नहीं थी, वे ठाकुर से कुछ भी नहीं ले पाये। कम-से-कम ऊपरी तौर से तो यही लगता है।

अतः साधुसंग का यह अर्थ नहीं है कि रोज साधु के पास जायँ अथवा उनके साथ रहें। शास्त्र का कहना है कि जो अधिकारी हैं, केवल उन्हें ही फलसिद्धि होती है। जिस-तिस को उपदेश देने में लाभ तो होता नहीं, बल्कि कभी कभी उसका विपरीत फल ही होता है। इसके सटीक दृष्टान्त के रूप में वेद का इन्द्र-विरोचन संवाद लिया जा सकता है। आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर बृहस्पति ने परिवर्तनशील वस्तुओं के बारे में बताना शुरू किया; विभ्रान्त करने के लिए नहीं, मन को क्रमशः सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व में ले जाने के लिए, एक एक सीढ़ी बताते हैं कि किस प्रकार समस्त उपाधियों के परे आत्मतत्त्व में पहुँचा जाय।

शास्त्र में इसे अरुन्धती-न्याय कहते है। जो अरुन्धती नक्षत्र को नहीं पहचानता, उसे इसका ज्ञान कराने के लिए पहले सप्तर्षि-मण्डल को देखने के लिए कहा जाता है। उसके बाद नीचे की ओर, वशिष्ठ नामक जो तीसरा तारा है, उसे दिखाते हैं। वशिष्ठ की ओर अच्छी तरह ध्यान देने पर उसकी बगल में एक अत्यन्त अस्पष्ट नक्षत्र दिखाई देगा, वही अरुन्धति है। प्रारम्भ में ही अरुन्धती को दिखाने से, वह दिखाई नहीं देता। शास्त्र भी इसी तरह से आत्मज्ञान देते समय, स्थूल से सूक्ष्म और फिर सूक्ष्मतर तक ले जाते हैं।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप वस्तु के साथ हमारा कोई परिचय नहीं है, और उसे जानना है भी बड़ा कठिन। सभी वस्तुओं का जो अनुभव करते हैं, उनका अनुभव हम भला किस प्रकार कर सकेंगे?

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। (बृ.उ.२/४/१४)

— विज्ञाता को हम भला किस उपाय से जानेंगे? जो नित्य ज्ञाता है, वह कभी ज्ञात अर्थात ज्ञान का विषय नहीं होता। ज्ञान के द्वारा हम विभिन्न

वस्तुओं को जानते हैं और इन विभिन्न वस्तुओं के ज्ञान को हम चैतन्य के साथ संश्लिष्ट पाते हैं। उस संश्लिष्ट अंश को छोड़ देने पर जो रह जाता है, वही शुद्ध चैतन्य है, आत्मा है। यह शुद्ध चैतन्य हम लोगों की धारणा से बाहर की वस्तु है। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हुए मैत्रेयी को कहते हैं कि इसके बाद फिर संज्ञा नहीं रह जाती अर्थात वृत्तिज्ञान नहीं रह जाता। इस स्वरूप को समझना बड़ा कठिन है। समस्त उपाधियों के समाप्त हो जाने पर जो रह जाता है, वही आत्मा है। इससे अधिक उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे भगवान को समझना आसान नहीं है, उसी तरह जब वे देह धारण करके आते हैं, तो उनको समझना भी सहज नहीं है। अतः जो लोग उनके सम्पर्क में आते हैं, वे सभी उन्हें समझ जायँ, इसकी कोई सम्भावना नहीं है। ठाकुर कहते हैं – भगवान राम को मात्र चौबीस ऋषियों ने ही ईश्वर के रूप में जाना था, बाकी सभी उन्हें दशरथपुत्र के रूप में ही जानते थे।उनको जानने का उपाय क्या है ? उपाय है मन की शुद्धि। जितने लोग ठाकुर के सम्पर्क में आए, वे सभी क्या शुद्ध मन लेकर आये थे? शुद्ध मन लेकर नहीं आये थे, इसीलिये नहीं समझ पाये। अतः जितने लोग ठाकुर के सम्पर्क में आये थे, वे सभी उनके संग का लाभ नहीं उठा पाये। केवल शारीरिक निकटता से संग नहीं होता। दृष्टान्त के लिए हम कह सकते हैं कि जैसे बेतार की सूक्ष्म तरंगें चारों ओर प्रवाहित हो रही हैं, किन्तु हमारे कान उन्हें ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। वे केवल एक विशिष्ट ग्राहक यंत्र के द्वारा ही पकड़ में आती हैं। मन को भी इसी तरह ट्यून करके उस ओर लगाने से यह उस वस्तु को पकड़ सकेगा। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मन में सद्भाव न होने पर साधुसंग नहीं होता। इसीलिए अवतार के निकट आने पर भी, अवतार को पहचान पाना सम्भव नहीं होता। भागवत में है – जल के ऊपर चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, मछलियाँ उस प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को अपने ही समान एक जलचर प्राणी समझकर उसके साथ खेलती हैं। उसे आकाश के चन्द्रमा के रूप में वे नहीं जानतीं। अवतार भी जब हमारे बीच आते हैं, तब हमारी दृष्टि उन्हें मनुष्य के रूप में ही देखती हैं।

तो फिर जो लोग उनसे प्रेम करते हैं और जो उनके प्रति द्वेष का भाव रखते हैं, उनमें क्या पार्थक्य है ? पार्थक्य है। जो लोग उनसे द्वेष करते हैं, वे स्वयं ही उनसे दूर हट जाते हैं और जिन्होंने उन्हें अपना बना लिया है,

वस्तुधर्म के प्रभाव से उनका मन शुद्ध हो जाता है। उनको न जानने पर भी, उनके स्वरूप को न समझने पर भी, उनसे प्रेम करने पर कल्याण ही होता है। भागवत में कहा गया है कि गोपियाँ श्रीकृष्ण को परमेश्वर के रूप में नहीं समझ सकीं और उन्हें कान्तभाव से ग्रहण किया। भगवत्तत्त्व को स्वरूपतः न जानकर, श्रीकृष्ण के साथ उन्होंने कान्तभाव से प्रेम किया, इसीलिए उनकी मुक्ति हुई। इसमें उनका वस्तुधर्म है। इसीलिए उनका कल्याण हुआ।

तो क्या जो लोग ठाकुर के सान्निध्य में रहे, उनका भी इसी तरह कल्याण होगा? अवश्य होगा। जो भी उनसे प्रेम करेंगे, उनके स्वरूप को जानकर अथवा बिना जाने, अपना समझकर जो भी उन्हें ग्रहण करेंगे, वस्तुधर्म के प्रभाव से उनका कल्याण होगा ही। पुराण तो इस विषय में और भी आगे बढ़कर कहते हैं कि उनके प्रति द्वेष का भाव रखने से भी कल्याण होता है। शिशुपाल आदि भगवान से द्वेष करते थे। शत्रुता के कारण निरन्तर उनका चिन्तन करने और सर्वत्र उनको देखते रहने के फलस्वरूप उनका कल्याण हुआ। लग सकता है कि यह अतिशयोक्ति है और वस्तु-माहात्म्य बताने के लिये ऐसा कहा गया। अन्यथा ईंट, पत्थर, काष्ठ, पशु, मनुष्य – क्या ये सब ब्रह्म नहीं है? शास्त्र कहते हैं कि सभी ब्रह्म हैं। अतः ब्रह्म को जब हम देख ही रहे हैं, तो ब्रह्म-साक्षात्कार रूपी जो फल है, वह मिलना ही चाहिए, पर मिल क्यों नहीं रहा है? इसलिए कि हम जगत् को ब्रह्मरूप नहीं देखते, उसे हम जगद्रूप या मायारूप ही देखते हैं, उसके स्वरूप में नहीं देखते। शास्त्र कहते हैं, स्वरूप की अनुभूति होने पर कल्याण होगा। भक्तिशास्त्र इतने अधिक तर्क-वितर्क में नहीं जाते। वे कहते हैं कि चाहे जैसे भी हो, उनमें मन स्थिर होने पर, दृढ़ होने पर, वस्तुधर्म के अनुसार मन शुद्ध और पवित्र हो जाता है। ऐसी दृष्टि आत्मसाक्षात्कार के योग्य हो जाती है।

यहाँ पर हम देखते हैं कि अश्विनीकुमार दत्त मात्र चार-पाँच दिन के लिए ही ठाकुर के सम्पर्क आए, किन्तु उनके मन पर इसकी ऐसी अमिट छाप पड़ी जो मानो उनके लिए जन्म-जन्मान्तर का सहारा बन गयी। वे अपने मन को ऐसा तैयार करके लाये थे कि उस पर श्रीरामकृष्ण के चरित्र का प्रतिबिम्ब बड़ी गहराई से अंकित हो गया। आचार्य शंकर कहते हैं –

क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका।

– एक क्षण के लिए भी सज्जन का संग होने पर वह संसार-सागर से पार जाने के लिए नौका बन जाता है। पर वह संग सही मन से और सही समय पर होना चाहिए। सज्जन को सज्जन के रूप में न देख पाने पर उसका फल नहीं मिलता। जैसे दक्षिणेश्वर में पुजारी सेवक लोग निरन्तर ठाकुर के सान्निध्य में रहे, फिर भी उसका कोई फल उनको नहीं मिला। उस दिव्य शक्ति का प्रभाव उन पर नहीं पड़ा। ब्रह्म सबमें व्याप्त हैं। फिर उन्हें हम ब्रह्मरूप में नहीं देख पाते, इसे ही कहते हैं माया। हमारी दृष्टि मायिक है, ईश्वर सर्वत्र होते हुए भी हमारी दृष्टि के अगोचर हैं। माया के द्वारा वे नहीं ढँके जाते, बल्कि हमारी दृष्टि को ढँक दिया जाता है। मेघ सूर्य को नहीं ढँक सकते, पर हमारी आँखों को ढँक सकते हैं। हम समझते हैं कि मेघ ने सूर्य को ढँक लिया, अन्तर बस इतना ही है।

अवतार जब देह धारण करके आते हैं, तब उन्हें मायामनुष्य कहा जाता है। माया के आवरण द्वारा वे स्वयं को मनुष्य के रूप में दिखाते हैं, वास्तव में वे मनुष्य नहीं होते। इसीलिए कहा जाता है कि उन्होंने जन्म ग्रहण किया है। सबकी आँखों पर माया का परदा डालकर उन्होंने अपने स्वरूप को छिपा लिया है। विश्व में सर्वत्र परिव्याप्त होते हुए भी मायाजाल का विस्तार करके मानो उन्होंने स्वयं को ढँक लिया है।

इस माया के हाथ से छुटकारा पाने के लिए मायाधीश को पकड़ना होगा। गीता में भगवान कहते हैं –

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते -(७/१४)

– जो मेरा शरणापन्न होता है, वह माया से पार हो जाता है। शरणापन्न को वे दिव्यचक्षु प्रदान करके अपना स्वरूप दिखा देते हैं। अर्जुन को उन्होंने दिव्यचक्षु दिया और तब अर्जुन ने उन्हें महा ऐश्वर्यशाली रूप में देखा। फिर ऐसा भी देखा जाता है कि समस्त ऐश्वर्यविहीन, सर्व उपाधिविवर्जित रूप में भी वे ही हैं। वह और भी दूर की बात है।

अवतार जन्म ग्रहण करने के बाद भी हमारी दृष्टि के परे हैं। इस तरह के जितने भी लोग ठाकुर के सम्पर्क में आए, उन सबने उन्हें मनुष्य समझा। इसलिए सही अर्थों में उनका साधुसंग अथवा अवतारसंग नहीं हुआ। दो-चार लोग, जो उन्हें पहचान पाये थे, उनके चरणों में आत्मसमर्पण कर सके थे, उनका जीवन धन्य हो गया। इसका एक दृष्टान्त हमें यहाँ प्राप्त होता है।

श्री'म' की स्मृतिकथा

बँगला कथामृत के प्रथम भाग के अन्त में प्रकाशक ने ग्रन्थकार की संक्षिप्त जीवनी दी है, जो पाठकों के लिए बहुत उपयोगी है। क्योंकि जिसने अमृत वितरण किया है, उनके विषय में कुछ जानने का कौतुहल पाठकों के मन में होना स्वाभाविक है। वहाँ महेन्द्रनाथ का परिचय बहुत संक्षिप्त होते हुए भी उनके जीवन को वचनामृत के उपदेशों के साथ मिलाकर बताने से वह सबके लिए अत्यन्त हृदयग्राही हुआ है। मास्टर महाशय को जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से देखा है, वे इस जीवन-चरित्र की और भी अच्छी तरह से धारणा कर सकते हैं। उनका समग्र जीवन रामकृष्णमय था।

हमने भी देखा है कि मास्टर महाशय ठाकुर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रसंग पर बोलते ही नहीं थे, इसलिए उनके सामने विविध प्रकार के प्रसंग उठते थे, किन्तु अन्य प्रसंग उठते ही वे उसे घुमाकर ठाकुर की बातों से जोड़ देते थे। एक भक्त ने कहा – थोड़ा उपनिषद् पर बोलिए। मास्टर महाशय थोड़ा हँस कर बोले – अजी, यह उपनिषद् की ही बातें तो हो रही हैं। ठाकुर की बातें क्या और कुछ हैं, यही तो उपनिषद् है। उन्होंने उपनिषद् से ही उद्धरण दिया – **उपनिषदं भो ब्रूहीति।** ऋषि कहते हैं – **उक्ता त उपनिषद् ब्राह्मी वाव त उपनिषदं ब्रूमेति।** (केन॰ ४/७) – ब्रह्मविषयक पराविद्या ही तुमसे कह रहा हूँ। उपनिषद् शब्द का अर्थ है– रहस्य, गम्भीर तत्त्वविद्या। ठाकुर के जीवन तथा वाणी में धर्म का रहस्य तथा गम्भीर तत्त्व निहित है। मास्टर महाशय का वर्णन करने का कौशल अपूर्व था, श्रोता अभिभूत हो जाते थे। इस बात को हम वचनामृत पढ़कर समझ सकते हैं। ठाकुर की बातें हमें वहाँ ज्यों-की-त्यों प्राप्त होती हैं, लेखक का अपना पाण्डित्य दिखाने का कोई प्रयास नहीं है।

हमने उन्हें विभिन्न स्थानों पर देखा है। पहले वे एक स्कूल भवन से लगे हुए उसके एक छोटे अंश में रहते थे। बाद में उस मकान को छोड़कर मार्टन स्कूल की चौथी मंजिल पर रहने लगे। इसके बाद वे अपने पुराने निवासस्थान में चले गये, जिसे आजकल 'कथामृत भवन' कहते हैं। वहाँ पर हमने जब भी उन्हें देखा, तो निरन्तर ठाकुर की चर्चा करते ही देखा। 'न अन्य बातें करना और न अन्य चिन्तन करना' – इस कथन का मानो उन्होंने अक्षरशः पालन किया था।

मास्टर महाशय प्रथम परिचय में ही लोगों को अपना बना लेते थे। मठ में किससे परिचय है, मठ कब जाते हो, वहाँ क्या देखते हो, इत्यादि सब बड़ी बारीकी से पूछते। जो व्यक्ति मठ हो आए हैं, उनसे विस्तारपूर्वक जानकारी लेते। तब मैं स्कूल में पढ़ता था, अपने एक साथी के साथ उनके पास गया (बाद में दोनों साधु हो गये)। विविध प्रकार की बातें होने के बाद वे आकर बोले – गाना आता है? हम एक-दूसरे की ओर देखकर बोले – अच्छी तरह से नहीं आता, फिर भी दोनों मिलकर गा सकते हैं। बोले – ठीक है, वैसे ही गाओ। दुर्भाग्यवश उस समय जो गाना याद आया उसका भावार्थ है, "पातकी समझकर क्या तुम्हारा इस तरह पाँव से ठुकरा देना उचित है?" सुनकर वे बोले – ठाकुर इतना पापी-तापी पसन्द नहीं करते थे, आनन्द का भजन गाओ। हम लोगों ने एक और भजन गाया, जो भूल चुका है; उसमें आनन्द की अभिव्यक्ति थी। सुनकर वे प्रसन्न हुए। बाद में एक बार फिर गया था। वे हमें चौथी मंजिल की छत पर ले गये। वहाँ से आस-पास के मकान दिखाई देते थे। हमें दिखाते हुए वे कहने लगे – देखो, वह अमुक-अमुक घर है, वहाँ ठाकुर आए थे। ठाकुर के नाते से ही उनका पूरे कलकत्ते शहर से परिचय था। छत से दिगन्तव्यापी आकाश दिखाई दे रहा था। वे बोलें -ठाकुर कहा करते थे कि आकाश देखने से खूब गहनता के साथ भूमा का स्पर्श मिलता है। इसी तरह वे बहुत कुछ बताते और सबके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते। यह एक प्रसंग पूरा हुआ।

उसके बाद जब मैं साधु हो गया, तब उनका भाव बदल गया। हमारा प्रणाम वे ग्रहण नहीं करते, संकुचित हो जाते थे। कहते – तुम लोग साधु हो, मुझे भला कैसे प्रणाम करोगे? तब से वे बिना कुछ खिलाए नहीं छोड़ते थे। ठाकुर ने उन्हें साधुसेवा करने को कहा था। अब भले ही हम लोगों जैसे छोकरे क्यों न हों, पर थे तो साधु ही न। हम लोगों की बड़ी ख़ातिरदारी करते। और भी देखा कि घर में रहते हुए भी उनमें अनासक्ति का भाव था; किसी के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं, अपने ही भाव में मग्न रहते। स्कूल भवन से लगे हुए एक कमरे में अकले ही रहते थे। उस समय उनकी आयु बहुत हो गई थी, कोई कोई अनुरागी भक्त उनके पास रहते और उनकी देखभाल करते। चौमंजिले भवन में भी पहले अकेले ही रहते थे, बाद में घर के लोग आए। सर्वदा आत्मस्थ रहते थे, परन्तु दूसरों के विषय में उदासीन होकर नहीं। सबके साथ मिलकर भगवत्प्रसंग करना ही मानो उनके जीवन का आदर्श था; इसका

परिचय वचनामृत के हर पृष्ठ पर मिलता है।

जब वे मठ में आते, तो अधिक बातें नहीं करते थे। पुराने साधु लोग उनका सम्मान करते। वे साधुओं के कमरे में जाते और देखते कि वे लोग क्या करते हैं, कौन-सी किताबें पढ़ते हैं, किस तरह जीवन बिताते हैं। यही उनके देखने का उद्देश्य रहता। भक्तों से कहते – मठ में जाकर केवल हो-हल्ला करके आ गये, इस तरह साधुसंग नहीं होता। प्रातःकाल जब साधु लोग उठकर जप-ध्यान करते हैं, उस समय उनके साथ बैठकर कुछ देर के लिए स्वयं को उसी भाव में तल्लीन कर देने की चेष्टा करनी चाहिए।

मठ में साधुसंग के अतिरिक्त उन्होंने निर्जनवास भी किया है। वचनामृत में लिखा है कि ठाकुर ने उन्हें दक्षिणेश्वर के साधना-कुटीर में रहने को कहा था। बीच बीच में वे भक्तों को लेकर पंचवटी के बिल्ववृक्ष के नीचे बैठकर जप-ध्यानकरते।ठाकुरकी स्मृति से जड़ित प्रत्येक स्थान उनके लिए पवित्र था। अमूल्य वस्तु समझकर पंचवटी के वृक्षों के पत्ते और कामारपुकुर से मिट्टी लाकर वे अपने पास रखते। छोटी-मोटी बातें, जो सामान्य दृष्टि से छूट जाती हैं, उन्हें वे भक्त की दृष्टि से भिन्न रूप में देखते थे।

मास्टर महाशय ने उत्तराखण्ड आदि तीर्थस्थानों में भी जाकर साधना की थी – कभी अकेले, तो कभी भक्तों के साथ। साधु लोग जब तपस्या करने जाते, तो वे उनकी आर्थिक सहायता किया करते थे। भले ही वह सहायता बहुत अधिक नहीं होती थी, किन्तु उसके पीछे भी एक तात्पर्य है। साधु तपस्या करने जाते है, कोई स्वच्छन्द जीवनयापन करने नहीं; अतः जितना नितान्त आवश्यक हो, उतना ही देना उचित है। सभी को वे एक रुपया देते थे। वैसे उन दिनों साधु के लिए एक रुपया भी कम नहीं था। वयस्क साधुओं के लिए दो रुपये निर्धारित थे और दो साधुओं को उन्होंने तीन रुपये भी दिये हैं। केवल ठाकुर के भक्त हैं, इसलिए मुक्तहस्त से देते हों, ऐसी बात नहीं थी। सांसारिक विषयों में वे बड़े कृपण थे। ठाकुर के शिष्य थे न। वे भी तो इस विषय में कम नहीं थे। फिर भी आवश्यकता पड़ने पर खर्च करने में वे पीछे नहीं रहते थे।

फिर वे केवल दाता ही नहीं, मास्टर भी थे। पता लगा लेते कि कौन कितना जप-ध्यान करते हैं। यह जानकर वे बड़े प्रसन्न होते कि कोई सत् जीवन बिता रहा है, ध्यान-भजन करता है। (क्रमशः)

मानस-रोग (२४/१)

पंडित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम में आयोजित विवेकानन्द जयन्ती संमारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४१ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन उनके चौबीसवें प्रवचन का पूर्वार्द्ध है। टेपबद्ध प्रवचन को लिखने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक है। –सं)

मनुष्य जीवन की मूलभूत समस्या है दुख। इस दुख का मूल रूप क्या है, यह मनुष्य के जीवन में कैसे आता है और उन मनोविकारों का स्वरूप क्या है, जिनके कारण व्यक्ति दुखी होता है, इसे रामचरितमानस में विविध पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है तथा उसका समाधान देने की चेष्टा की गई है कि किस प्रकार की मनःस्थिति में या किस प्रकार की समस्या आने पर कौन सा उपाय स्वीकार करना चाहिए। काल, कर्म और गुण के द्वारा तो व्यक्ति के जीवन में दुख आते ही हैं, पर इन सारे दुखों में व्यक्ति के जीवन में स्वभाव से उत्पन्न होनेवाला दुख बड़ा विचित्र है और उसका निर्माण वह स्वयं करता है। वैसे यह सोचकर बड़ा अटपटा लगता है कि जिस दुख को व्यक्ति नहीं चाहता, उसे न केवल वह स्वीकार करता है बल्कि अपने स्वयं के लिये उस दुख का निर्माण भी करता है। अयोध्याकाण्ड में इस प्रक्रिया को रामराज्य में बाधा उत्पन्न करनेवाले कारणों के माध्यम से बड़े सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। फिर उन दुखपूर्ण परिस्थितियों में क्रमशः कैसे परिवर्तन हुआ और अन्ततः उसकी अन्तिम परिणति किस तरह रामराज्य की स्थापना के रूप में हुई यही संकेत हमें मानस में प्राप्त होता है।

महाराज श्रीदशरथ के मन में भगवान श्रीराम को राज्य दे देने का संकल्प जागृत होता है और वहाँ मन्थरा एक ऐसी पात्र हैं जो इस संकल्प को सुनकर दुखी हो जाती है। यह दुख ही मन्थरा के स्वभाव का परिचायक है –

पर सुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।७/१२०/३४

अगर इस पूरी पंक्ति को दृष्टिगत रखकर इसे क्रमिक दृष्टि से देखें, तो रोगों में भी एक प्रकार का क्रम दिखाई देता है। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिसके रोगी सहानुभूति के पात्र हो जाते हैं। शरीर के सम्बन्ध में कुछ ऐसे भी रोग हैं कि वह जिस व्यक्ति को हो जाता है, उस व्यक्ति से लोग घृणा करने

लगते हैं और उससे दूर भागने की चेष्टा करते हैं। इसी तरह मन के विविध रोगों के सन्दर्भ में भी ऐसा क्रम दिखाई देता है। यद्यपि मन के सभी रोग व्यक्ति के लिये बड़े घातक हैं, पर उनमें से कुछ रोग स्वयं व्यक्ति के लिये ही नहीं बल्कि सारे समाज के लिये दुख की सृष्टि करनेवाले होते हैं और इसीलिये इस पंक्ति में गोस्वामीजी ने जिन दो रोगों को एक साथ जोड़ दिया है ये व्यक्ति और समाज, दोनों के लिये ही भयानक है। जब किसी को राजयक्ष्मा हो जाता है, तो लोगों के मन में उसके प्रति दया की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है और साथ ही साथ सजग व्यक्ति यह भी सोचता है कि यह छूत का रोग है, कहीं हमें भी न लग जाय। लेकिन अगर किसी को कुष्ट हो जाय, तो लोग उसे देख दूर से ही भागने की चेष्टा करते हैं। कोढ़ व्यक्ति के मन में बड़ी घृणा और विभीषिका उत्पन्न करनेवाला है। यद्यपि इतिहास में ऐसा भी हुआ है और आज भी होता है कि कोई विशेष सन्त कोढ़ी से प्रेम करते हैं, पर साधारण व्यक्ति तो स्वभाववश ही कोढ़ी से दूर रहने की चेष्टा करता है।

यहाँ पर मन के रोगों के एक सांकेतिक क्रम का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि किस तरह से एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, और इस प्रकार न जाने कितने रोग उत्पन्न होते चले जाते हैं, जो व्यक्ति और समाज के लिये बड़े भयानक और घातक हैं। अगर कोई पूछे कि गोस्वामीजी, आप मानस रोगों में सबसे भयानक रोग किसे मानते हैं, तो वे कहेंगे कि इस मन के कोढ़ को ही। यह मन का कोढ़ क्या है। मन के रोगों में से जिसकी तुलना कोढ़ से की गई है, वह रोग केवल रोगी व्यक्ति के लिये ही नहीं, बल्कि पूरे समाज के लिये बड़ा घातक है। और यह मन का कोढ़ क्या है? गोस्वामीजी कहते हैं – मन की जो राजयक्ष्मा है, टी.बी. है, वह है दूसरों का सुख देखकर जलना। और जो व्यक्ति दूसरों के सुख को देख कर जलता है, वह अपने आप में ही घुलता है। बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें दूसरों का सुख देखकर ईर्ष्या होती है, फिर भी वे मन मारकर उस दुख को सह लेते हैं। पर अधिकांश लोग उस ईर्ष्याजन्य दुख को मन मारकर, निष्क्रिय होकर सहने में सक्षम नहीं होते, बल्कि सक्रिय होकर सामनेवाले व्यक्ति के सुख को नष्ट करने या उसे छीन लेने के लिये व्यग्र हो जाते हैं। यहाँ पर इन दोनों को गोस्वामीजी एक ही पंक्ति में रखकर वर्णन करते हुए कहते हैं कि दूसरों के सुख को देखकर यदि मन में जलन हो, तब तो वह राजयक्ष्मा

है। लेकिन इसके बाद यदि मन में दूसरों का सुख नष्ट कर देने की दुष्टता तथा कुटिलता की वृत्ति आ जाय, दूसरों को पीड़ा तथा हानि पहुँचाने की वृत्ति आ जाय, तो समझ लेना चाहिए कि उसे मन का कोढ़ हो गया है और यह निश्चित रूप से व्यक्ति व समाज के लिये सर्वाधिक घातक है।

यह ईर्ष्या की वृत्ति ही विकसित होकर कुटिलता और दुष्टता का रूप धारण कर लेती है। मन के रोगों के विकास का यह क्रम हमें मन्थरा के चरित्र में दिखाई देता है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में ये मानस-रोग जिस क्रम से आते हैं, उनका गोस्वामीजी ने मन्थरा और कैकेयी के चरित्र के माध्यम से बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। महाराज दशरथ की तीन रानियाँ हैं। और ये तीनों आध्यात्मिक अर्थ में ज्ञान, क्रिया और उपासना की प्रतीक हैं –

ज्ञानशक्तिश्च कौशल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदोनृपश्चदशरथः।।

कौशल्याजी ज्ञानमयी शक्ति हैं, सुमित्राजी उपासनामयी और कैकेयीजी क्रियामयी। ज्ञान की जो विलक्षणता है, वह कौशल्याजी के जीवन में दिखायी देती है। उपासना का जो स्वरूप है वह सुमित्रा जी के जीवन में और क्रिया की जो ऊँचाई और उसके साथ जुड़ी हुई जो समस्याएँ हैं, वे सब कैकेयीजी के चरित्र में दीख पड़ती हैं। क्रिया जिस तरह से अपरिहार्य और अनिवार्य है, वह भी रामचरितमानस में कैकेयीजी के चरित्र के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। क्रिया के बिना व्यक्ति और समाज चल नहीं सकता, पर जब हम क्रिया को स्वीकार करते हैं, तब क्रिया के साथ कुछ समस्याएँ भी आती हैं और किस तरह वे उलझती चली जाती हैं इसका संकेत अयोध्याकाण्ड के प्रारंभिक पंक्तियों में ही दिखाई दे जाता है। विवाह के समय कौशल्याजी के पिता ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक उन्हें महाराज दशरथ को अर्पित किया। विवाह में वर के प्रति कन्या के अर्पण की इस प्रक्रिया को अगर व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो यह समाज को सुव्यवस्थित रूप से चलाने की एक पद्धति है। किन्तु इसे अगर आध्यात्मिक अर्थ में देखें, तो विवाह केवल एक सामाजिक व्यवस्था मात्र नहीं, यह एक आध्यात्मिक प्रक्रिया भी है। विवाह का उद्देश्य केवल परिवार तक ही सीमित नहीं, बल्कि उससे भी ऊपर है। विवाह में कन्यादान के पूर्व एक प्रक्रिया है। वर जब मण्डप में आता है, तब कन्या का पिता पहले वर के चरण धोता है और तब उसे अपनी कन्या अर्पित करता है। यह

जो चरण धोने की प्रक्रिया है, इसका मूल उद्देश्य क्या है? पिता को अपनी पुत्री के प्रति बड़ी ममता होती है और जब वह वर के प्रति कन्या अर्पित करता है, तब आध्यात्मिक दृष्टि से वह अपनी ममता का अर्पण करता है, ममता का त्याग करता है। अतः कहीं उसे अपने इस त्याग का, इस अर्पण का अभिमान न हो जाय कि मैं बड़ा वैराग्यवान हूँ या बड़ा दानी हूँ, इसीलिए इसकी व्यवस्था की गयी है, क्योंकि ऐसी समस्या भी आती है।

जिन लोगों के जीवन में त्याग नहीं होता, वे तो आसक्ति से बँधे होते हैं, पर जिनके जीवन में ममता का त्याग है, उनके जीवन में भी एक समस्या है। क्या? जिस व्यक्ति के जीवन में ममता का जितना ही त्याग होता है, उसके जीवन में अहंता की उसी परिमाण में वृद्धि हो जाती है। इसीलिए विवाह में कन्यादान के साथ वर के पद-प्रक्षालन की क्रिया जुड़ी हुई है। कन्या का अर्पण जहाँ ममता के त्याग का द्योतक है, वहीं पद-प्रक्षालन अहंता के परित्याग का परिचायक है। यों तो व्यावहारिक रूप से देखें तो देनेवाला बड़ा और लेनेवाला छोटा होना चाहिए। और इस तरह से लगता तो यही है कि ग्रहीता ही कन्यादान करनेवाले का पद-प्रक्षालन करे, क्योंकि वह अपनी कन्या देकर उसके प्रति विशेष स्नेह तथा उदारता का परिचय दे रहा है। पर कन्या के पिता के मन में यह वृत्ति है – नहीं, यह जो मैं अर्पण कर रहा हूँ, यह व्यक्ति के प्रति नहीं, अपितु साक्षात् नारायण के प्रति कर रहा हूँ। इसीलिए तो विवाह के मन्त्र में वर को व्यक्ति के रूप में न देखकर 'विष्णुरूपयें' कहकर कन्यादान दिया जाता है कि आप साक्षात् विष्णु रूप हैं और मैं कन्यारूपी लक्ष्मी, जो आपकी ही वस्तु है, आपको अर्पित कर रहा हूँ। इसीलिये कन्यादान के पूर्व वर के पद-प्रक्षालन की प्रथा है, ताकि कहीं देनेवाले के मन में अहंता न आ जाय। यही ज्ञान की प्रक्रिया है।

जहाँ ज्ञान है, वहाँ अहंता और ममता का अभाव होना चाहिए। कौशल्याजी ज्ञानमयी हैं, इसलिये उनके विवाह में इसी क्रम का निर्वाह हुआ। वहाँ इसी प्रक्रिया की प्रधानता है। और यही अहंता और ममता का अभाव कौशल्याजी के जीवन में आदि से अन्त तक दिखाई देता है। कौशल्याजी के मन में कभी भी ऐसी धारणा नहीं रही कि राम मेरे पुत्र हैं। बल्कि गीतावली रामायण में गोस्वामीजी यह कहते हैं कि जब श्रीराम ने बोलना प्रारम्भ किया और कौशल्याजी को माँ कहकर पुकारा, तब माँ ने जो

पहला पाठ श्रीराम को पढ़ाया, वह क्या था? माँ ने तुरन्त श्रीराम का मुख बन्द कर दिया और कहा कि तुमने माँ कहना तो सीख लिया, पर अभी माँ को पहचान नहीं पाये हो। श्रीराम ने दृष्टि उठाई, तो माँ ने कैकेयीजी की ओर संकेत किया और कहा – तुम्हारी माँ ये हैं। इस तरह ज्ञान में जिस ममता का अभाव होना चाहिए वह कौशल्याजी के जीवन में आदि से अन्त तक दिखाई देता है। उनके जीवन में कभी भी पुत्र के प्रति ममता, आसक्ति या अधिकार की वृत्ति नहीं दिखती। यद्यपि कौशल्याजी पट्टमहीषि हैं, बड़ी रानी हैं, पर महाराज दशरथ उनकी तुलना में कैकेयीजी को अधिक महत्त्व देते हैं। तो भी कौशल्याजी के मन में कोई आक्रोश कम-से-कम रामचरितमानस में तो दिखाई नहीं देता। जिस ज्ञान की परम्परा में कौशल्याजी का महाराज दशरथ के साथ परिणय हुआ, अहंता और ममता का परित्याग कर जीवन में जैसी वृत्ति होनी चाहिए, वह कौशल्याजी के जीवन में आद्योपान्त दिखाई देती है।

सुमित्राजी मूर्तिमती उपासना हैं। उपासना में सबसे अधिक महत्त्व समर्पण की वृत्ति का है। और समर्पण का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई देता है सुमित्राजी के चरित्र में। ऐसा उत्कृष्ट समर्पण अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देता। जब तीनों रानियों को खीर वितरण किया गया, तो उस समय सुमित्रा अम्बा सबसे पीछे हैं। कौशल्याजी और कैकेयीजी को खीर दी गयी और तब उन्होंने उसमें से कुछ अंश सुमित्राजी को दिया। सुमित्राजी का सबसे पीछे रहना उपासना और विनम्रता का सूचक है। उपासक स्वयं अपने आपको आगे नहीं रखना चाहता। वह पीछे ही रहना चाहता है। सुमित्रा अम्बा के चरित्र में भी यही वृत्ति है। पर इस पीछे रहने की वृत्ति से वे कोई घाटे में रह जाती हों, ऐसी बात नहीं है, बल्कि इससे उनको बड़ा ही अद्‌भुत लाभ हुआ। क्योंकि जब चरू का वितरण किया जा रहा था, तब वे आगे नहीं आईं और महाराज दशरथ ने चरू का एक भाग कौशल्याजी को और एक भाग कैकेयीजी को दे दिया, किन्तु सुमित्राजी के संकोच को देखकर उन्होंने कौशल्याजी और कैकेयीजी से कहा कि वे अपने खीर का एक एक भाग सुमित्रा को दे दें।

इसका अभिप्राय क्या है? उपासना में तीन पक्ष है ज्ञान, क्रिया तथा भावना। सुमित्राजी स्वयं तो भावनात्मक हैं और कौशल्याजी ज्ञानमयी तथा कैकेयीजी क्रियामयी हैं। इस प्रकार दोनों के भाग मिल जाने से भावना के साथ ज्ञान और क्रिया जुड़ जाती है और उपासना त्रिआयामी हो जाती

है। उपासना में उपास्य के रूप का ज्ञान है, उपास्य की सेवा क्रिया का पक्ष है और उपासना स्वयं भावमयी है। सुमित्राजी के जीवन में इन्हीं तीनों का सामंजस्य है। इस तरह सुमित्राजी का चरित्र बड़ा विलक्षण है, बड़ा अद्भुत सामंजस्य है उनमें। केन्द्र में तो विद्यमान है उपासना और जीवन में ज्ञान तथा क्रिया भी सहज रूप से विद्यमान हैं। फिर आगे चलकर इसी का विस्तार आपको लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी के चरित्र के माध्यम से भी दिखाई देगा। और वह संकेत यह है कि भक्त पीछे रहकर किसी घाटे में नहीं रहता। सुमित्रा अम्बा सबके पीछे दिख पड़ती हैं, पर लाभ में वे सबसे आगे रहीं। क्योंकि जहाँ कौशल्याजी और कैकेयीजी को एक एक पुत्र हुए, वहीं सुमित्राजी को दो भाग मिलने के कारण दो पुत्र हुए। लेकिन इन दो पुत्रों की प्राप्ति में भी उनके चरित्र की महानता ही व्यक्त हुई। उनके समर्पण की समग्रता सही अर्थों में इस प्रकार प्रकट हुई कि दो पुत्र पाने के बाद भी उनके अन्तःकरण में न तो कभी उन्हें अपना पुत्र मानकर उनके प्रति ममत्व आया और न कभी अधिकार की वृत्ति आई, बल्कि इससे उनमें समर्पण की ही वृत्ति आई।

यह समर्पण की प्रक्रिया क्या है? भक्त की मान्यता है कि जो वस्तु जिससे मिली हो, उसे ही वह अर्पित कर देना – "त्वदीयं वस्तु गोविन्दं तुभ्यं समर्पये।" ऐसा नहीं कि भक्त कोई अपनी वस्तु भगवान को अर्पित करता हो। उसकी तो भावना यही रहती है कि हमें जो भी मिला है सब भगवान ने ही दिया है, सब भगवान का है और अर्पण करेंगे तो इसी भाव से कि प्रभु तुम्हारी ही वस्तु तुम्हें सौंप रहा हूँ। सुमित्रा अम्बा ने यही किया। खीर का एक भाग कौशल्या ने दिया था और एक भाग कैकेयीजी ने। और इन दो भागों से उनके दो पुत्र हुए। पर दोनों पुत्रों में से उन्होंने एक को कौशल्याजी के पुत्र की और दूसरे को कैकयीजी के पुत्र की सेवा में लगा दिया। लक्ष्मण को आदेश दिया कि तुम राम का अनुगमन करो और शत्रुघ्न को आदेश दिया कि तुम भरत का अनुगमन करो। इस तरह से उन्होंने जो भी पाया उसे पुनः भगवान तथा सन्त की सेवा में अर्पित कर दिया। भगवान श्रीराम साक्षात् ईश्वर हैं, भरतजी महानतम सन्त है। भगवान और सन्त के प्रति जो श्रद्धा और समर्पण की भावना होनी चाहिए, वह सुमित्रा अम्बा के चरित्र में विद्यमान है। इस तरह उनके चरित्र में उपासना का तत्त्व प्रकट होता है।

कैकेयीजी का चरित्र थोड़ा उलझनों से भरा है। उनका चरित्र कुछ ऐसा

विवादास्पद है कि कई वक्ता तो बड़ी भावुकता से कैकेयीजी की प्रशंसा करते हैं और कुछ अन्य कटु आलोचना करते हैं। कभी कभी मुझसे भी पूछा जाता है कि आप कैकेयी के प्रशंसक हैं या निन्दक? तब इसका उत्तर देना मेरे लिये सरल नहीं होता। मैं तो यही कहा करता हूँ कि भाई, कैकेयीजी की प्रशंसा करनेवाला भी इतना बड़ा व्यक्ति है कि उनकी बात को काटना 'छोटी मुँह बड़ी बात' हो जायगी। एक ओर तो कैकेयीजी की प्रशंसा करनेवाले साक्षात् भगवान राम हैं और केवल प्रशंसक ही नहीं, बल्कि चित्रकूट की भरी सभा में तो वे यहाँ तक कह देते हैं – जो लोग मेरी जननी कैकेयी को दोष देते हैं, वे जड़मति हैं और इतना ही नहीं कैकेयीजी की निन्दा करनेवालों की आलोचना करते हुए वे कहते हैं –

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई।
जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई।। २/२६२/८

– जिसने कभी साधु का सेवन नहीं किया, जो साधु सभा से सदा दूर रहा हो, वही मेरी माँ कैकेयी की निन्दा करेगा। लेकिन यह बड़ी अनोखी बात है। जिस सभा में भगवान राम यह बात कह रहे हैं उसी सभा में भगवान राम के चरणों में बैठे हुए हैं श्रीभरत। और रामायण के सबसे बड़े साधु भरतजी ही हैं। मानस में भरतजी के लिए कहा गया है –

तात भरत तुम सब विधि साधू।
राम चरन अनुराग अगाधू।।२/२०४/७

अब एक ओर तो भगवान राम कह रहे हैं कि जो माँ कैकेयी की निन्दा करता है उसने कभी साधु समाज का सेवन नहीं किया, पर दूसरी ओर देखें तो यह बात बिलकुल ही उल्टी है। रामायण के सबसे बड़े साधु ही कैकेयी के सबसे बड़े निन्दक हैं।

श्रीभरत कैकेयीजी के सबसे बड़े निन्दक है। उन्होंने कठोरतम शब्दों में कैकेयी की निन्दा की है। कैकेयीजी के लिये जो शब्द बार बार उनके मुख से निकले हैं, उन्हें आपने सुना या पढ़ा होगा। वे कहते हैं कि तेरे अन्तःकरण में यदि ऐसी ही कुमति थी तो –

जनमत काहे न मारे मोही।।२/१६०/७
गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा।। २/१६१/२

– तूने जन्म लेते ही मुझे मार क्यों नहीं दिया और तेरी जीभ क्यों नहीं गल

गई, तेरे मुँह में कीड़े क्यों नहीं पड़ गये, जो तूने पिताजी से ऐसे वरदान माँगे और प्रभु को वन भेज दिया? तुझसे बढ़कर अधम इस धरातल पर और कोई हो ही नहीं सकता।

अब किसकी बात ठीक है? भगवान राम की या श्रीभरत की? इस बात को अगर कोई भरतजी से ही पूछे कि जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान राम कर रहे हैं, उनकी आप निन्दा कैसे कर रहे हैं? तो श्रीभरत कहते हैं कि भगवान राम के द्वारा की गयी प्रशसा कैकेयी की विशेषता नहीं, यह तो प्रभु के स्वभाव की कोमलता है। ये अपने स्वभाव से बाध्य होकर प्रशंसा कर रहे हैं। इसलिये इसे वास्तविक प्रशंसा नहीं मान लेना चाहिए। चित्रकूट में भरतजी ने भगवान श्रीराम के द्वारा की गयी कैकेयीजी की प्रशंसा का बड़े मृदु शब्दों में खण्डन करते हुए कह दिया – महाराज, मैं जानता हूँ कि मुझसे कैकेयी की निन्दा सुनकर आपको अच्छा नहीं लग रहा होगा। आप कैकेयी के प्रशंसक हैं और मैं निन्दक हूँ। और जहाँ पर इतना स्पष्ट मतभेद हो, वहाँ पर अन्य लोगों का मत भी ले लेना चाहिए। इस समय यहाँ अयोध्या से इतने नागरिक आए हुए हैं, इनसे पूछ लीजिए कि इनमें से कोई भी कैकेयी का प्रशंसक है क्या? और बोले कि मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि –

जननी कुमति जगतु सबु साखी।। २/२६१/१

– जो लोग यहाँ आए हुए हैं, केवल वे ही नहीं, बल्कि पूरे संसार के लोग इस बात के साक्षी है कि कैकेयी से बढ़कर दुबुद्धि अन्य कोई नहीं है।

अब तो भगवान राम अकेले पड़ गये। समझ गये कि इनमें से किसी के भी मन में कैकेयी अम्बा के प्रति सद्भाव नहीं है, कोई भी उनकी प्रशंसा सुनने की मनःस्थिति में नहीं है। तब उन्होंने बड़ी विलक्षण युक्ति से काम लिया। अपनी अनुपम भाषणकला के द्वारा उन्होंने बड़ी उत्कृष्ट पद्धति से लोगों के मन को मोड़ना प्रारम्भ किया। वे श्रीभरत की प्रशंसा करने लगे। सुनकर सारे लोग गद्गद हो गये, क्योंकि श्रीभरत के प्रति सबके मन में अपार श्रद्धा और स्नेह का भाव है। जब श्रीभरत की प्रशंसा सुनकर सभी भावविभोर हो गये, तब भगवान राम ने अवसर देखकर पूछा – आप लोगों को भरत की महानता में कोई सन्देह तो नहीं है? सबने कहा – नहीं, हमें कोई संदेह नहीं है। तब प्रभु ने उसी को उलटकर कहा कि जिस माँ ने भरत जैसे सन्त को जन्म दिया है, जरा सोचिए तो सही कि वह जननी कितनी महान होगी!

अगर वह जननी न होती तो यह भरत जैसे सन्त कहाँ से मिलते, जिनकी आप लोग इतनी प्रशंसा कर रहे हैं! इस तरह भगवान राम ने एक विलक्षण पद्धति से अपना पक्ष रख दिया। जब लोग सहजता से उनकी बात ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं थे, तो उन्होंने श्रीभरत की प्रशंसा के माध्यम से कैकेयीजी की महानता को स्वीकार करने के लिये लोगों के मन को तैयार कर लिया।

लोग कैकेयी की चाहे जितनी भी निन्दा क्यों न करें, परन्तु इस बात से तो कोई अस्वीकार कर ही नहीं सकता कि भरत महानतम सन्त है और कैकेयीजी ही तो श्रीभरत की जननी हैं। इसे यदि दूसरे अर्थों में कहे तो क्रिया की यही अपरिहार्यता है कि भरत का जन्म तभी होगा, जब कैकेयी होंगी। 'मानस' में श्रीभरत के लिये कहा गया –

जौं न होत जग जनम भरत को।
सकल धरम धुर धरनि धरत को।। २/२३२/१

भरतजी समस्त धर्मों को संसार में प्रगट करने वाले हैं। अब अगर श्रीभरत मूर्तिमान धर्म है और कैकेयीजी मूर्तिमान क्रिया, तो इसका अभिप्राय है कि धर्म जब भी व्यक्त होगा तो क्रिया के माध्यम से ही होगा। धर्म की अभिव्यक्ति केवल चिन्तन के द्वारा तो हो नहीं सकती। धर्म तो जब हमारे जीवन में सक्रिय होकर क्रियात्मक रूप धारण करता है, तभी सार्थक होता है। इसे हम इस तरह से कह सकते हैं कि यदि हम क्रिया के दोषों को देखकर क्रिया का आश्रय नहीं लेंगे, निष्क्रिय हो जायेंगे, तो परिणाम क्या होगा? फिर तो समाज में धर्मपालन की वृत्ति ही नहीं रह जायेगी। इस दृष्टि से भगवान राम का पक्ष अपने स्थान पर ठीक है। वे कहते हैं कि जब कैकेयी अम्बा ही न होंगी, तो श्रीभरत का जन्म कहाँ से होगा?

पर श्रीभरत जो कहते हैं वह साधना का पक्ष है। और उस दृष्टि से श्री भरत कैकेयीजी की जो निन्दा करते हैं, उसका अभिप्राय है कि क्रिया के साथ जो क्रिया के दोष हैं, उनसे भी निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है। क्रिया में एक-एक कर जो विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, श्रीभरत जैसे पुत्र को जन्म देने के बाद भी क्रिया कैसे संग से प्रभावित हो जाती है, यह कैकेयीजी के चरित्र में दिखाई देता है। कैकेयीजी के ऊपर संग का रंग बड़ा जल्दी चढ़ता है। क्रिया के साथ यह समस्या जुड़ी हुई है कि जहाँ पर क्रिया है, क्रियात्मक भूमिका है, वहाँ व्यक्ति संग से प्रभावित हो जाता है।

शरीर के रोगों के सन्दर्भ में देखा जाता है कि कुछ लोग रोगी के पास जाते ही उस रोग से ग्रस्त हो जाते हैं, पर कुछ लोग जल्दी प्रभावित नहीं होते। कुछ लोगों में प्रतिरोधक शक्ति अधिक होती है और कुछ लोगों में कम। मन के सन्दर्भ में भी यही बात है। कुसंग ही मानस रोग का केन्द्र है। कुसंग अर्थात् जिस व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार के दुर्गुण अथवा मानसिक रोग विद्यमान हैं उनका संग। जो लोग क्रिया के साथ अधिक जुड़े होते हैं, जहाँ पर वृत्ति क्रियामूलक होती है, वहाँ कुसंग का प्रभाव बड़ी शीघ्रता से पड़ता है। पर जहाँ भावना और विचार की प्रधानता है, वहाँ कुसंग का प्रभाव जल्दी नहीं पड़ता और कुछ प्रभाव पड़े तो भी बचने की सम्भावना है।

क्रिया की यह समस्या कैकेयीजी के जीवन में दिखाई देती है। जैसे कौशल्याजी के विवाह में उनकी ज्ञानमूलक वृत्तियों का परिचय मिलता है वैसे ही कैकेयीजी के विवाह में भी उनकी क्रियामूलक वृत्तियों का मूलरूप दिखाई देता है। कैकेयीजी अत्यन्त सुन्दर हैं, जिसका अर्थ है क्रिया की सुन्दरता। और महाराज दशरथ के लिये कहा गया कि वे मूर्तिमान वेद हैं। वेद हमारे लिये परम प्रमाण है, लेकिन भगवान श्रीकृष्ण ने जब वेदपाठ की आलोचना की, तो उन्होंने वेद के उस पक्ष की निन्दा की जो क्रियाप्रधान है। यद्यपि वेद में उपासना और ज्ञान के भी मन्त्र हैं, परन्तु यदि हम वेद के मन्त्रों का विभाजन करके देखें तो उपासना और ज्ञानपरक मन्त्रों की अपेक्षा उसमें यज्ञपरक और क्रियापरक मन्त्रों की संख्या ही अधिक हैं। इन्हीं कर्मकाण्ड सम्बन्धी मन्त्रों की ओर इंगित करते हुए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि वेदों में बार बार क्रिया और सकाम कर्म की प्रशंसा की गयी है –

क्रियाविशेष बहुलां भोगेश्वर्यगतिं प्रति। २/४३

भगवान श्रीकृष्ण ने दोनों बातें कहीं। एक तो क्रिया का पक्ष और दूसरी फल की कामना। जहाँ क्रिया होगी, वहाँ व्यक्ति उसके बदले में भोग तथा ऐश्वर्य चाहेगा। यह क्रिया की सहज वृत्ति है। क्रिया के प्रति वेद का जो पक्षपात है, उसकी वृत्ति महाराज दशरथ के जीवन में विद्यमान है, क्योंकि महाराज दशरथ वेद के मूर्तिमान प्रतीक हैं। उनका कौशल्याजी तथा सुमित्राजी दोनों के प्रति स्नेहभाव है, परन्तु कैकेयीजी के प्रति उनका स्नेह अत्यधिक है। और ये कैकेयीजी दशरथजी के जीवन में आती कैसे हैं? इनका परिणय किस तरह होता है? कौशल्याजी अथवा सुमित्राजी की तरह नहीं। वैसे साधारणतः

विवाह का प्रस्ताव कन्यापक्ष से वरपक्ष को भेजा जाता है और कौशल्याजी तथा सुमित्राजी के विवाह में ऐसा ही हुआ।

परन्तु कैकेयीजी के विवाह के समय विवाह का प्रस्ताव कन्यापक्ष से नहीं, बल्कि महाराज दशरथ की ओर से भेजा गया। कैकेयीजी की सुन्दरता के बारे में सुनकर महाराज दशरथ ने स्वयं कैकयनरेश के पास सन्देश भेजा कि मैं आपकी कन्या से विवाह करना चाहता हूँ। और तब क्रिया के जो दो निन्दनीय पक्ष है, श्रीभरत ने जिस अर्थ में क्रिया की निन्दा की है, वह क्रम सामने आया। कैकेयीजी को जन्म देनेवाले कैकयनरेश कौन हैं? इसे आध्यात्मिक भाषा में कहेंगे, क्रिया को जन्म देनेवाला यह जो कर्तृत्व-अभिमान है, यह जो 'मैं' है, यही कैकयनरेश है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि कर्तृत्व से ही क्रिया का जन्म होता है। महाराज दशरथ ने जो कैकयनरेश के पास प्रस्ताव भेजा, इसका तात्पर्य क्या है? यह जो हमारे आपके जीवन में है कि 'मैं कर्ता हूँ', 'मैं क्रिया करनेवाला हूँ' – यह 'मैं' प्रत्येक क्रिया के पहले होगा और अन्त में? क्रिया के प्रारम्भ में 'मैं' और अन्त में फल पाने की कामना। ये दोनों दोष कैकयनरेश के जीवन में दिखाई देते हैं। दशरथजी ने जब विवाह का प्रस्ताव रखा, तो उन्होंने तत्काल यही कहा – मैं अपनी कन्या आपको दूँगा, तो मुझे क्या मिलेगा? आप मुझे क्या देंगे? – क्या चाहिए? – वचन देंगे? जब तक मुझे लाभ दिखाई नहीं देगा, तब तक मैं कन्या नहीं दूँगा।

क्रिया के साथ यह वृत्ति बनी रहती है। लाभ-हानि की वृत्ति न तो ज्ञान में है और न उपासना में, पर क्रिया के साथ लाभ-हानि की वृत्ति जुड़ी रहती है। जब हम और आप क्रिया करते हैं, तो करने से पहले हमारे मन में दो वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, पहला तो यह कि मैं करनेवाला हूँ और दूसरा कि करने के बाद मुझे क्या मिलेगा। और ये ही अनर्थ के कारण हैं।

गोस्वामीजी तो बड़े संकट में पड़े। कैकेयीजी की निन्दा करें या प्रशंसा? भगवान राम प्रशंसा कर रहे हैं और भरतजी निन्दा। गोस्वामीजी तो कवि हैं उन्होंने एक मार्ग निकाल लिया। क्या? उन्होंने कैकेयीजी के दो नाम रख लिये। जब कभी निन्दा करनी होती, तब एक नाम ले लेते और जब प्रशंसा करनी होती, तो दूसरा। जब मन्थरा आती है षड्यंत्र की वृत्ति लेकर, उस समय कैकेयीजी ने मन्थरा के खूब फटकारा। तब गोस्वामीजी ने यह नहीं कहा कि कैकेयी ने मन्थरा को फटकारा, यहाँ पर वे कहते हैं - भरतमातु। ये जो मन्थर

को फटकार रही हैं, ये तो भरत की माँ हैं, सन्त की जननी हैं। जब प्रशंसा करनी है तब कहते हैं, भरत की जननी हैं और जब निन्दा करनी है तब वे कैकेयीजी के लिये एक दूसरा नाम चुन लेते हैं। तब क्या कहते हैं? कहते है – 'कैकयनन्दिनि मंदमति' – यह कैकयनरेश की बेटी बड़ी मन्दबुद्धि है। यह बड़े महत्व की बात है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया से जब धर्म का जन्म हो, तब तो वह परम कल्याणकारी है। पर जब क्रिया के साथ कर्तृत्व और फलाकांक्षा जुड़ जाय, तब वह व्यक्ति को क्रमशः अनर्थ की दिशा में ले जाती है और यही कैकेयीजी के जीवन में दिखाई भी देता है।

महाराज दशरथ ने कैकयनरेश से पूछा – बदले में आपको क्या चाहिए? उन्होंने कहा – आपको वचन देना होगा कि मेरी पुत्री से जो पुत्र होगा, उसी को आप अयोध्या का राज्यसिंहासन देंगे। क्रिया में रजोगुण की वृत्ति है, अपने आपको श्रेष्ठ मानने की वृत्ति है, दूसरों के अधिकार को छीनने की वृत्ति है। कैकयनरेश राजकुलों की यह परम्परा जानते हैं कि राज्य ज्येष्ठ पुत्र को ही दिया जाता है, लेकिन क्रिया की स्वार्थपरता कैकयनरेश के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त होती है – परम्परा चाहे जो हो, पर मेरी पुत्री के सन्दर्भ में उसे छोड़ना होगा।„ मेरी पुत्री से जो पुत्र होगा, उसे ही राज्य देना होगा। और दशरथजी महाराज? वे तो कैकेयीजी की सुन्दरता पर इतने मुग्ध हैं कि अपने आपको भुलावा देकर भी वचन दे देते हैं। अपने आपको भुलावा देने का तात्पर्य? महाराज दशरथ के सामने प्रश्न आया कि परम्परा तो यह है कि ज्येष्ठ पुत्र को ही राज्य दिया जाता है, पर उन्होंने मान लिया कि कौशल्या अथवा सुमित्रा को तो पुत्र हुआ नहीं और न अब होने की सम्भावना है। ऐसी स्थिति में कैकेयी का जो पुत्र होगा, वही स्वाभाविक रूप से सबसे बड़ा होगा। इसलिये वचन देने में हानि ही क्या है? जब हम किसी वस्तु के प्रति आसक्त होते हैं, किसी वस्तु को पाने के लिये बेचैन होते हैं, तब इसी तरह के कुछ तर्क ढूँढ़ लेते हैं और उस वस्तु को पाने की शर्तों को स्वीकार करते समय हमें उसके औचित्य का ध्यान ही नहीं रह जाता। महाराज दशरथ ने भी ऐसा ही किया और वचन दे डाला। परिणाम क्या हुआ? अन्याय का बीज पड़ गया। कैकेयीजी के जीवन में यह बीज बहुत दिनों तक अंकुरित नहीं हुआ। लेकिन यह तो बीज के स्वभाव पर निर्भर करता है कि कौन सा बीज कितने दिनों में अंकुरित होगा। (क्रमशः)

स्वामी प्रेमेशानन्द

म्लेच्छनिवह-निधने कलयसि करवालं, धूमकेतुमिव किमपि करालम्।
केशवधृत कल्कि शरीर, जय जगदीश हरे।।

–१–

बुद्धकाल के पश्चात् लोग पुनः धर्म की बातें भूल गए। तब भगवान ने शंकराचार्य के रूप में नरदेह धारणकर जीवों को धर्मशिक्षा दी। इसी प्रकार मानव जाति के मंगल हेतु रामानुज, चैतन्य और रामकृष्ण आदि अवतार भी आविर्भूत हुए। परन्तु दशावतारों में बुद्धदेव के बाद कल्कि-अवतार का ही उल्लेख हुआ है। कल्कि का अर्थ है जो आएँगे।

कलियुग के अन्त में मनुष्य ज्ञानहीन हो भगवान को भूल जाएगा। पापाचार के फलस्वरूप उसकी आकृति तथा आयु छोटी हो जाएगी। धूर्तता, कपटता आदि सभी नीच प्रवृत्तियाँ उसके स्वभाव का अंग हो जाएँगी, सूदखोर ब्राह्मणों का मान होगा और दुष्ट लोग संन्यासी का वेश धारण करके लोगों को ठगेंगे। भाई-बन्धु को लोग पराया समझेंगे, परन्तु साले-सम्बन्धियों को परम आत्मीय मानेंगे। झगड़ा-विवाद नित्यकर्म हो जाएगा। केशविन्यास व वेशभूषा का चलन ही सभ्यता कहलाएगा। कुल मिलाकर मनुष्यों के मन में बुद्धि-विवेक का लेश तक न रह जाएगा।

दानवी प्रकृति के लोग छल-बल से देश के राजा होकर प्रजा का अर्थशोषण करेंगे। दुष्ट लोग राजाओं के अनुगत होकर लोगों का हित करने के नाम पर अपना ही स्वार्थसाधन करेंगे। रोग, महामारी, अनावृष्टि, अकाल आदि प्राकृतिक उपद्रवों से निरन्तर लोकक्षय होगा।

शम्भल नामक ग्राम में विष्णुयशा नाम के एक ब्राह्मण निवास करेंगे। वे सुमति नामक स्त्री के साथ विवाह करेंगे। दोनों ही धर्म-कर्म में दिन बितायेंगे। कल्कि उनके घर में पुत्र होकर जन्म लेंगे और अल्पायु में ही वेदादि शास्त्रों का पाठ करके महापण्डित हो जाएँगे। बाद में वे जीवों के दुख से कातर हो महादेव की उपासना करके अस्त्रविद्या प्राप्त करेंगे।

उसी देश के राजा विशाखयुप कल्किदेव के माहात्म्य से अवगत होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर, उन्हीं के उपदेशानुसार राज्य-शासन चलाएँगे। कल्किदेव की कृपा से उनकी प्रजा धर्मपरायण हो उठेगी।

–२–

सिंहल द्वीप में बृहद्रथ नाम के एक राजा होंगे। उनकी रानी कौमुदी के गर्भ से एक अपूर्व लावण्यमयी कन्या का जन्म होगा। उसका नाम होगा पद्मा। पद्मा बाल्यकाल से ही श्रीहरि की परम भक्त होंगी और उन्हें पति रूप में प्राप्त करने के लिये महादेव की आराधना करेंगी। हर-पार्वती प्रसन्न होकर उन्हें वर देंगे कि श्रीहरि उन्हें पति रूप में प्राप्त हों और कोई भी पुरुष उनकी ओर पत्नीभाव से देखने पर तत्काल नारी रूप धारण करेगा।

पद्मादेवी की विवाह के उपयुक्त आयु हो जाने पर राजा बृहद्रथ अपनी कन्या के विवाह हेतु एक स्वयंवर सभा बुलाएँगे। राजागण असाधारण रूपवती पद्मा का रूप देख मोहित होकर उन्हें पत्नी रूप में पाने की इच्छा करते ही तत्काल पद्मा के समान ही युवती हो जाएँगे। लज्जा के कारण वे अपने राज्य को न लौटकर पद्मादेवी के सखी रूप में उन्हीं के साथ निवास करने लगेंगे। कल्किदेव यह समाचार पाकर अश्वारोहण करते हुए सिंहल द्वीप जाएँगे। पद्मादेवी जलविहार करते समय उन्हें देखते ही पहचान कर उनके प्रति अनुरक्त हो जाएँगी। बृहद्रथ यह जानकर काफी धन आदि के साथ अपनी कन्या कल्किदेव को समर्पित कर देंगे। जो समस्त राजा नारी रूप में परिणत हो गए थे, वे सभी कल्किदेव का दर्शन करते ही अपने पूर्व रूप में आकर कृतज्ञ हृदय के साथ स्वदेश लौट जाएँगे।

इधर देवराज इन्द्र के आदेश पर उनके वास्तुकार विश्वकर्मा शम्भल ग्राम में एक अपूर्व पुरी का निर्माण करेंगे। कल्किदेव अपनी पत्नी तथा हाथी-घोड़े, धन-रत्न आदि के साथ स्वदेश लौटकर वहीं निवास करेंगे। कुछ काल बाद उनके जय-विजय नामक दो महा बलशाली पुत्र जन्मेंगे।

–३–

विष्णुयशा एक अश्वमेघ यज्ञ करने का संकल्प करेंगे। पुत्र पिता की इच्छा पूर्ण करने हेतु दिग्विजय हेतु बाहर निकलेंगे। क्योंकि चक्रवर्ती राजा हुए बिना अश्वमेघ यज्ञ नहीं किया जा सकता।

भगवान कल्कि सर्वप्रथम कीटकदेश में बौद्ध नामधारी असुरप्रकृति लोगों के राज्य पर आक्रमण करेंगे। बौद्धगण आमने-सामने के युद्ध में

पराजित होकर तरह तरह की माया का आश्रय लेंगे, परन्तु कल्किदेव उनका सारा प्रयास विफल कर देंगे। इसके बाद वे लोग बहुत बड़ी म्लेच्छ सेना बनाकर कल्कि सेना पर आक्रमण करेंगे। भयानक युद्ध के उपरान्त बौद्ध तथा म्लेच्छगण समाप्त हो जाएँगे। उनके रक्त की नदियाँ बहेंगी, जिसमें हाथी, घोड़े, रथ आदि घड़ियाल के समान तैरेंगे, मृतदेहों का पहाड़ बन जाएगा।

पति-पुत्रों के निधन से क्रोधान्ध होकर बौद्ध तथा म्लेच्छ नारियाँ युद्धवेश में सज्जित होकर कल्कि सेना पर आक्रमण करेंगी। स्त्रियों को मारने से पाप तथा अपयश मिलता है और युद्ध में उन्हें परास्त करके भी गौरव नहीं मिलता - यह सोचकर कल्किदेव एक माया का आश्रय लेते हैं। नारियों द्वारा अस्त्र चलाने पर वह जड़ हो जाएगा और बाणादि बार बार लौटकर उन्हीं के हाथों में आ जाएँगे। इससे उन महिलाओं के भाव में परिवर्तन आएगा। कल्किदेव को भगवान समझकर वे उनकी शरण लेंगी। वे उन्हें ज्ञानोपदेश के द्वारा मुक्ति प्रदान करेंगे।

उसी समय चक्रतीर्थ में बालखिल्य नाम के अति लघुकाय ऋषिगण कल्किदेव से निवेदन करेंगे कि कुथोदरी नामक एक मायाविनी राक्षसी के उपद्रव से उनकी तपस्या में बड़ा विघ्न पड़ रहा है। कल्किदेव उस राक्षसी को सबक सिखाने सेना के साथ हिमालय की ओर प्रस्थान करेंगे।

हिमालय पर्वत पर अपना सिर और निषध पर्वत पर पैर रखकर अनेक योजन स्थान में सोकर कुथोदरी अपने पुत्र विकंजन को स्तनपान कराएगी। स्तन से दूध झरने पर एक नदी की सृष्टि होगी। राक्षसी के निःश्वास के वेग से वन्य हाथी दूर फिंक जाएँगे, गुफा समझकर सिंहगण उसके कर्णकुहरों में और हिरनगण उसके रोम कूपों में निवास करेंगे। इस अद्भुत राक्षसी को देखकर कल्किदेव की सेना मूर्च्छित हो जाएगी। कल्किदेव द्वारा आक्रमण किये जाने पर वह उन्हें सेनासहित निगल जाएगी। वे खड्ग धारण कर राक्षसी का पेट फाड़कर बाहर निकलेंगे। विराट् पर्वतमाला के समान धरती पर गिर कर चारों ओर रक्त से प्लावित करती हुई कुथोदरी प्राण त्याग देगी।

मरु तथा देवापि नामक दो भक्त राजा कल्किदेव के शिष्य बन जाएँगे। विशाखयूप, मरु, देवापि आदि से युक्त अपनी विराट सैन्यवाहिनी

के साथ कल्किदेव विशसन नामक प्रदेश पर आक्रमण करेंगे। पूर्ववत ही भयानक युद्ध के पश्चात् अधर्माचारीगण नष्ट हो जाएँगे। कोक तथा विकोक नामक दो मायावी विभिन्न प्रकार की माया का अवलम्बन करेंगे, परन्तु कल्किदेव उनकी माया को व्यर्थ करते हुए उनका वध कर डालेंगे।

इसके बाद कल्कि भल्लाट नगर पर आक्रमण करेंगे। भल्लाट के महा योद्धा तथा हरिभक्त राजा शशिध्वज और उनकी भक्तिमती पत्नी सुशान्ता योगबल से कल्किदेव को पहचान लेंगे। सुशान्ता अपने पतिदेव को अनेक प्रकार से समझाएगी कि वे शत्रुभाव को त्यागकर श्रीहरि के चरणों में शरण लें, परन्तु शशिध्वज बिल्कुल भी राजी न होकर अपने पुत्र आदि समस्त सम्बन्धियों तथा सेना के साथ कल्किदेव पर आक्रमण करेंगे। शशिध्वज की वीरता से विशाखयूप आदि सभी पराजित होंगे। उनके अस्त्राघात से कल्किदेव के मूर्च्छित हो जाने पर राजा शशिध्वज उन्हें सीने से लगाकर राजपुरी ले जाएँगे।

सुशान्ता एवं उनकी सखियाँ श्रीहरि को पा आनन्दपूर्वक उन्हें घेरकर नृत्य-गीत करती रहेंगी। चेतना लौटने पर कल्किदेव उनका भक्तिभाव देखकर सन्तुष्ट होंगे तथा आत्मसमर्पण कर देंगे। शशिध्वज अपनी कन्या रमा को कल्किदेव के हाथों सौंपकर उन्हें दामाद के रूप में वरण करेंगे। इस अवसर पर उस विराट् सैन्यसंघ में महा-महोत्सव होगा।

भगवान कल्कि भारत के समस्त अत्याचारी असुरस्वभाव राजाओं का संहार करेंगे। दुष्ट लोग उनके भय से सन्मार्ग का अवलम्बन करेंगे। दिग्विजय करके वे सम्पूर्ण भारत के चक्रवर्ती राजा होंगे और पिता द्वारा संकल्पित अश्वमेध तथा अन्य अनेक प्रकार के यज्ञों का सम्पादन करके वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करेंगे। उनके असाधारण कृतित्व देखकर तथा उनके शासनाधीन रहने से लोग निरन्तर उन्हीं के चरित्र का चिन्तन करते हुए पवित्र हो जाएँगे। सर्वदा उनके आदर्शानुसार धर्मकर्म में लगे रहकर वे लोग परम शान्ति प्राप्त करेंगे। यथासमय अच्छी वर्षा होगी। भूमि के उर्वर हो जाने से यथेष्ट मात्रा में अन्न उपजेगा। रोग-शोक कुछ भी नहीं रह जाएगा।

इस प्रकार पुनः सत्ययुग का आविर्भाव हो जाने पर कल्किदेव अपना अवतार देह त्यागकर गोलोक में विचरण करेंगे। (लेखमाला समाप्त)

श्री चैतन्य महाप्रभु (३०)

स्वामी सारदेशानन्द

जननी-जन्मभूमि परिदर्शन के प्रसंग में चैतन्यदेव के शान्तिपुर निवास काल में हम उनके साथ रघुनाथ की मुलाकात का वर्णन पहले ही कर आये हैं। तब से चैतन्यदेव के उपदेशानुसार रघुनाथ बाह्य वैराग्य को छोड़कर अनासक्त भाव से संसार में निवास कर रहे थे। उनका भावान्तर तथा घर-गृहस्थी के कार्यों में मनोयोग देखकर उनके सगे-सम्बन्धी बड़े आनन्दित तथा निश्चिन्त हो गये थे। इस कारण अब रघुनाथ को स्वाधीनतापूर्वक चलने-फिरने व रहने की अनुमति मिल गयी थी। अब उन पर पहरा देने की भी कोई आवश्यकता न थी। आसक्तिहीन रघुनाथ बाह्यतः कार्यादि में लिप्त प्रतीत होते थे, तथापि उनका पूरा मरा-प्राण ईश्वर की ओर ही लगा रहता था। गुरुजन व साधु-भक्तों की सेवा, दीन-दुखियों की भलाई, विविध प्रकार के सत्कर्म तथा साधन-भजन में भलीभाँति दिन बिताते हुए भी उनका अन्तर सदैव संसार पाश को छिन्नकर उन्मुक्त होने के लिए व्याकुल रहता था। अतः सुयोग पाते ही वे निकटवर्ती भक्तों के पास जाकर भगवच्चर्चा तथा भजन के द्वारा अपने चित्त की ज्वाला का शमन किया करते थे।

प्रभुपाद नित्यानन्द तब चैतन्यदेव के आदेशानुसार बंगाल में भ्रमण करते हुए आचाण्डाल के बीच हरिनाम-वितरण और भक्ति-उपासना का प्रचार कर रहे थे। उनके इस अत्यद्भुत् धर्मप्रचार के फलस्वरूप वहाँ भगवद्भक्ति की अभूतपूर्व बाढ़ आ गयी थी, सम्पूर्ण अंचल हरिध्वनि और नाम- संकीर्तन से मुकरित हो उठा था। यह जानकारी हम पहले ही दे आये हैं। इस प्रकार धर्मप्रचार और परिभ्रमण करते हुए नित्यानन्द एक बार पानीहाटी के विशिष्ट भक्त राघव पण्डित के घर ठहरे हुए थे। महासंकीर्तन, नृत्य-गीत, उत्सव आदि के फलस्वरूप वह स्थान आनन्दक्षेत्र में परिणत हो गया था। यह संवाद पाकर रघुनाथ भी व्याकुल हुए और अपने अभिभावकों की अनुमति लेकर पानीहाटी की ओर चल पड़े। गंगातट पर एक विशाल वटवृक्ष के नीचे प्रभुपाद प्रेमानन्द में विभोर थे। उसी समय रघुनाथ ने वहाँ पहुँचकर उनके चरणों में दण्डवत् किया। दयाल निताई ने उन्हें उठाकर प्रेमालिंगन दिया और स्नेहपूर्वक बोले, "चोर! तुम बारम्बार घर छोड़कर भाग आते हो और भक्तों के साथ प्रेम का आस्वादन करते हो। इस

बार इसके लिए तुम्हें दण्ड दिया जाएगा।" रघुनाथ ने स्वयं को कृतार्थ माना और नतमस्तक होकर हर्षपूर्वक दण्डयाचना की। प्रभु का आदेश हुआ, "समस्त भक्तों को एकत्र करके यहाँ दही-चूड़े का महोत्सव करो। यही तुम्हारे लिए उपयुक्त सजा है।" प्रभु का असीम अनुग्रह देखकर रघुनाथ का चित्त विगलित हुआ। उनकी चरण-वन्दना करके उन्होंने आदेश शिरोधार्य किया और परम पुलकित होकर वे उत्सव का आयोजन करने लगे।

रघुनाथ ने सन्देशा भेजकर घर से यथेष्ट धन, सामग्री तथा लोगों को बुलवा लिया। नित्यानन्द की इच्छानुसार चारों ओर आदमी भेजकर भक्तों को निमन्त्रण-पत्र बाँटा गया। उत्कृष्ट दही, चूड़ा, केला, चीनी, दूध और सन्देश की प्रचुर मात्रा में व्यवस्था हुई। निर्दिष्ट दिवस को सभी भक्त आ पहुँचे। गंगातट के उस वटवृक्ष के नीचे महोत्सव आरम्भ हुआ। प्रेमोन्मत्त निताई ने चैतन्यदेव का स्मरण कर नृत्य, गीत, कीर्तन आदि आरम्भ किया। भावोन्मत्त भक्तगण ने भी उसमें योग दिया। संकीर्तन के घोष से गंगावक्ष कम्पित और आकाश विदीर्ण होने लगा। उस ध्वनि से आकृष्ट होकर चारों ओर से बहुत से लोग दौड़े आये और भावविभोर होकर उस नाम-महायज्ञ में सम्मिलित हो गये। प्रेमप्रदाता निताई के अन्तर में ऊँच-नीच का भेद न था, धनी-निर्धन का विचार न था – वे दीन-दुःखी, आतुर-कंगाल सबको समान रूप से आलिंगन में आबद्ध करने लगे। जो भी आता, उनकी अहेतुक कृपा पाकर धन्य हो जाता। भावुक भक्तगण प्रेम-भाव में विभोर होकर धूल में लोटने लगे। गंगातट पर एक अपूर्व दृश्य उपस्थित हो गया, मानो प्रेम का बाजार लगा हो।

दही-चूड़े का विराट् भोग भगवान को निवेदित किया गया। नित्यानन्द प्रभु, भक्तगण तथा समवेत जनसमुदाय को रघुनाथ ने भक्ति और आदर के साथ वह प्रसाद ग्रहण कराकर स्वयं को कृतार्थ माना। कोई भी उस अमृत से वंचित नहीं रहा। महोत्सव के मेले में बेचने के लिए बहुत से दुकानदार मिष्ठान्नादि विविध पदार्थ लाये थे, रघुनाथ ने उचित मूल्य पर वह सब भी खरीदकर वितरण किया और उन दुकानदारों को भी तृप्तिपूर्वक प्रसाद खिलाया। महोत्सव की सफलता और रघुनाथ का भक्तिभाव देखकर नित्यानन्द और भक्तों के आनन्द की सीमा न रही। उत्सव के अन्त में रघुनाथ ने वहाँ आगत समस्त साधु, भक्त, ब्राह्मण सज्जनों को यथायोग्य

प्रणामी देकर सम्मानित किया। राघव पण्डित द्वारा पूजित श्रीविग्रह की सेवा के लिए उनके हाथ में यथेष्ट धन तथा नित्यानन्द प्रभु की सेवा के लिए भी उनके सेवक को कुछ अर्थ देकर रघुनाथ ने स्वयं को कृतार्थ माना। साडम्बर होने के बावजूद पूर्ण सात्विक भाव से कलिकाल का महायज्ञ नाम-संकीर्तन-महोत्सव सुचारू रूप से सम्पन्न हो जाने के बाद, नित्यानन्द और भक्तों का स्वेहाशीष शिरोधार्य करके परम पुलकित चित्त के साथ रघुनाथ घर लौटे। अब भी उस महायज्ञ की पुण्यस्मृति में प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी के दिन पानीहाटी में उत्सव होता है, जो 'दण्ड महोत्सव' के नाम से सुपरिचित है।

घर लौटने के बाद रघुनाथ के अन्तर का वैराग्य पुनः प्रबल हो उठा। उन्होंने गृहस्थी के कार्यों का पूर्णतः त्याग कर दिया। अब से रघुनाथ घर के भीतर प्रवेश नहीं करते और बाहर चण्डीमण्डप में ही निवास करते हुए रात-दिन भगवच्चिन्तन में विभोर रहते। उनका भावान्तर देखकर सगे-सम्बन्धियों का चित्त उद्विग्न हो उठा। रघुनाथ की माता ने जब अधीर होकर पुत्र को पुनः पहरे में रखने का बारम्बार अनुरोध किया, तो उनके पिता ने खेद व्यक्त करते हुए कहा, "इन्द्र के समान ऐश्वर्य और अप्सरा के समान पत्नी जिसके मन को नहीं बाँध सकते, उसे भला तुम डोर के बन्धन में कैसे बाँध सकोगी! जन्मदाता प्रारब्ध को खण्डित करने में अक्षम है। इस पर चैतन्यचन्द्र की कृपादृष्टि हुई है। यह उनके पीछे पागल है, इसे भला कौन रोक सकता है।" परन्तु माँ का मन भी क्या समझाने से मानता है? कहीं इकलौता पुत्र आँख से परे न चला जाय, घर से भाग न जाय – इस भय से उनके विशेष व्याकुल होने पर, हार मानकर पुनः रघुनाथ पर दिन-रात निगाह रखने को प्रहरी की नियुक्ति हो गयी।

रघुनाथ के पिता और ताऊ जिस जमींदारी के मालिक थे, पहले वह एक मुसलमान जमींदार की सम्पत्ति थी। उनके नियमित रूप से राजस्व न दे पाने के कारण ही उसका हस्तान्तरण हो गया था। रघुनाथ के ताऊ हिरण्य और पिता गोवर्धन ने नबाब से उस जमींदारी का बन्दोबस्त ले लिया था। वे लोग नियमित रूप से सरकारी राजस्व जमा करके भी काफी लाभ कमा लेते थे। सप्तग्राम उन दिनों न केवल बंगाल, अपितु पूरे भारत का एक श्रेष्ठ वाणिज्यकेन्द्र था। देश-विदेश के सौदागरों की कोठियों, आढ़त तथा

व्यावसायिक नावों से सप्तग्राम का बन्दरगाह सदा सुशोभित होता रहता था। इसके अतिरिक्त कहते हैं कि सप्तग्राम जनपद काफी बड़ा था। अनुमान किया जाता है कि वर्तमान प्रेसीडेंन्सी विभाग का बहुत-सा हिस्सा सप्तग्राम जनपद के अन्तर्गत आता था। इस विस्तीर्ण जमींदारी को दक्षतापूर्वक चलाते हुए हिरण्य और गोवर्धन राजैश्वर्य का भोग कर रहे थे। उनके पूजा, व्रत, दान आदि पुण्य कर्मों तथा सत्कीर्ति की कोई सीमा न थी। उन दिनों उस अंचल में ऐसी कहावत चल निकली थी कि जिस ब्राह्मण को हिरण्य-गोवर्धन का दान नहीं मिला, वह ब्राह्मण ही नहीं है। धनी लोगों के शत्रु भी अनेक हुआ करते हैं। हिरण्य-गोवर्धन के शत्रु उनका अनिष्ट करने को विविध प्रकार के उपाय सोच रहे थे। आखिरकार वे लोग सप्तग्राम जनपद के उन पुराने मुसलमान जमींदार के साथ मिलकर नबाब के पास गये और हिरण्य-गोवर्धन के विरुद्ध शिकायत की। उन लोगों का अभियोग था कि हिरण्य-गोवर्धन प्रजा से बहुत अधिक कर वसूल रहे हैं, जबकि सरकारी राजस्व उन्हें पहले के बन्दोबस्त के अनुसार ही देना पड़ता है। पहले तो नबाब ने उन लोगों की शिकायत पर ध्यान ही नहीं दिया, परन्तु शत्रुओं द्वारा तरह तरह के प्रयासों तथा षड्यन्त्रों के फलस्वरूप हिरण्य-गोवर्धन के ऊपर उनका मन थोड़ा थोड़ा प्रतिकूल होने लगा। नवाब ने दोनों भाइयों को सूचना भेजी, "सुना है कि तुम लोगों ने प्रजा से अधिक कर वसूलकर अपनी आय बहुत बढ़ा ली है। अतः अब से तुम्हें सरकारी राजस्व भी ज्यादा देना होगा।" हिरण्य-गोवर्धन ने इस आदेश का प्रतिवाद किया और राजस्व बढ़ाने को सहमत नहीं हुए। दोनों पक्षों के बीच वादानुवाद तथा मनोमालन्य हुआ और क्रमशः विवाद चरम सीमा तक जा पहुँचा। नवाब ने उनकी जमींदारी को जप्त करके दोनों भाइयों को कैद में रखने का आदेश दिया। नवाब की सेना उन्हें बन्दी बनाने को दौड़ पड़ी। अपना भवन घेर लिए जाने पर दोनों भाइयों ने भागकर आत्मरक्षा की। हिरण्य-गोवर्धन को न पाकर सेनापति के आदेश पर आखिरकार सैनिकगण रघुनाथ को ही पकड़कर ले चले।

पिता और ताऊ का पता बताने के लिए सेनापति ने रघुनाथ को तरह तरह के अत्याचार व उत्पीड़न की धमकी दी, परन्तु इसका कोई फल नहीं निकला। शान्त और निर्भीक रघुनाथ बिना किसी डर-भय के एकाग्र मन से

अपने भाव में डूबे भगवान को पुकारने लगे। सेनापति ने अतुल ऐश्वर्य के स्वामी, अतीव क्षमतावान, जनप्रिय जमींदार, कायस्थ-सन्तान हिरण्य-गोवर्धन के एकमात्र वंशधर को मुख से भले ही तरह तरह की धमकियाँ दी हों, परन्तु परिणाम की आशंका से वे उन पर अत्याचार करने का साहस नहीं जुटा सके। रघुनाथ का व्यक्तित्व, स्वभाव व चाल-चलन देखकर तथा उनकी विनम्र वाणी सुनकर वयस्क मुसलमान सेनानायक का चित्त मोहित हो गया। उन्होंने रघुनाथ के प्रति पुत्रवत् स्नेह प्रदर्शित करते हुए युक्तिपूर्वक अपना कार्य पूरा करने का प्रयास किया। रघुनाथ भी उनके प्रति यथायोग्य व्यवहार तथा उचित सम्मान दिखाते हुए, उनके मन को शान्त करते हुए अपने पिता व ताऊ के प्रति उनका आक्रोश दूर करने का प्रयास करने लगे। इस प्रकार दोनों पक्ष के शान्त हो जाने पर आपस में समझौता हो गया। रघुनाथ ने सन्देश भेजकर अपने पिता और ताऊ को बुलवाया। उनकी मध्यस्थता में दोनों पक्षों के विवाद का बड़ा सन्तोषजनक समाधान हो गया। हिरण्य की सप्तग्राम की जमींदारी बरकरार रह गयी।

रघुनाथ के कारण ही इस भयानक संकट से उद्धार होने के कारण, उनके प्रति माता-पिता, ताऊ-ताई तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों के स्नेह में सैकड़ों-गुनी वृद्धि हो गयी। रघुनाथ को मन-ही-मन यह सब विपत्ति ही प्रतीत हुआ, यह जीवन अब उनके लिए असह्य हो उठा था। वे यथाशीघ्र संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने को व्यग्र हो उठे। चैतन्यदेव उन दिनों पुरी में निवास कर रहे थे। रघुनाथ को संवाद मिला कि रथयात्रा के उपलक्ष्य में गौड़ीय भक्तगण शीघ्र ही पुरी को प्रस्थान करनेवाले हैं। यह समाचार पाकर उनका चित्त और भी उतावला हो उठा और पुरी जाकर महाप्रभु का संगलाभ पाने को अधीर होकर वे भाग निकलने का उपाय सोचने लगे। घर के बाहर स्थित चण्डीमण्डप के उनके निवासस्थान पर निगाह रखने के लिए तब भी प्रहरी मुस्तैद रहता था। भगवत्कृपा से एक दिन उन्हें मौका मिल ही गया। रघुनाथ के कुलगुरु के गृहदेवता के लिए पुजारी का अभाव हो जाने से भोर में ही उन लोगों ने रघुनाथ के पास सन्देश भेजा कि वे जाकर एक पुजारी ठीक कर दें। बड़े सबेरे का समय था वे तुरन्त ही पुजारी ठीक करने को निकल पड़े। प्रहरी ने उनका अनुसरण नहीं किया। रघुनाथ ने पुजारी ठीक करके यथास्थान भेज दिया और स्वयं घर को न लौटकर, पुरी की

ओर भाग चले। मुख्य मार्ग पर चलने से पकड़े जाने का भय था, अतः वे पथ छोड़कर बस्तियों से दूर दूर पगडण्डियों से होकर तेजी से चल पड़े। उन्हें आहार-निद्रा का होश न था, विश्राम की सुविधा न थी, दोनों पाँव क्षत-विक्षत हो रहे थे, तो भी वे भागे जा रहे थे। राजवैभव के बीच पले रघुनाथ ने, इसी प्रकार कभी आधे पेट, तो कभी खाली पेट रास्ता तय करते हुए, बारह दिनों में लगभग ढाई सौ मील की यात्रा पूरी कर ली और पुरी जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने जाकर चैतन्यदेव के चरणों में दण्डवत प्रणाम किया और अपना जीवन सार्थक माना।

इधर रघुनाथ के घर के लोग सोच रहे थे कि वे जिस कार्य से गये है, उसी में विलम्ब हो रहा है और थोड़ी ही देर में वे पूजा की सुव्यवस्था करके लौट आयेंगे। परन्तु काफी देर तक उनके वापस न आने पर वे लोग चिन्तित हुए और रघुनाथ का पता लगाने को आदमी भेजा। ढूँढ़ने पर उनका कोई पता नहीं मिला। चारों ओर आदमी दौड़ाए गये, पर कहीं कोई सुराग नहीं मिला। उसी समय गौड़ीय भक्तों की टोली कीर्तन करते हुए पुरी की ओर जा रही थी। हिरण्य-गोवर्धन ने सोचा कि रघुनाथ भी अवश्य ही भक्तों से जा मिलेंगे, परन्तु पता चला कि वे उन लोगों के पास भी नहीं गये हैं। वे लोग रघुनाथ के बारे में कुछ भी नहीं जानते थे। रघुनाथ का परिवार बडा दुःखी, चिन्तित और उद्विग्न होकर दिन बिताने लगा।

रघुनाथ के पुरी पहुँचने पर, चैतन्यदेव उन्हें पाकर अतीव आनन्दित हुए। परन्तु पथश्रम के फलस्वरूप उनका थका, दुर्बल और क्षीण शरीर देखकर महाप्रभु को अपार दुःख भी हुआ। रघुनाथ को दामोदर स्वरूप के हाथों में सौंपते हुए वे बोले, "मेरा अनुरोध है कि आज से तुम उन्हें अपना शिष्य एवं सेवक समझना और उपयुक्त शिक्षा के द्वारा इनका त्याग-वैराग्यपूर्ण जीवन गढ़कर, प्रेमभक्ति मार्ग के द्वारा दिन-पर-दिन इन्हें भगवान की ओर अग्रसर होने में सहायता करना।" स्वरूप ने नतमस्तक होकर उनकी यह आज्ञा शिरोधार्य की और उसी दिन से रघुनाथ 'स्वरूप के रघु' कहलाए। तदुपरान्त अपने सेवक को सम्बोधित करते हुए चैतन्यदेव ने कहा, "देखो गोविन्द, रघुनाथ का शरीर बड़ा क्षीण और दुर्बल हो गया है; थोड़े दिन तुम इनके खाने-पीने की ओर ध्यान देना, ताकि ये शीघ्र ही स्वस्थ और सबल हो जायँ।"

चैतन्यदेव के संगलाभ से रघुनाथ के जीवन में एक अभिनव आशा का संचार हुआ। वे भक्तों के साथ परम आनन्दपूर्वक अपने दिन बिताने लगे और स्वरूप के विशेष आश्रित रहकर उनके उपदेशानुसार अपनी दैनन्दिन जीवनयात्रा, नित्यकर्म, आहार और साधना आदि को सुनियन्त्रित करने का प्रयास करने लगे। चैतन्यदेव की इच्छानुसार गोविन्द ने रघुनाथ के लिए आहार आदि की सुव्यवस्था कर दी, परन्तु रघुनाथ ने पाँच दिन बाद ही उनसे कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया। दिन भर अपने कुटीर में भगवद्भजन में बिताने के पश्चात् रात में वे श्री जगन्नाथ के मन्दिर में जाते और वहीं पर थोड़ी देर तक भजन सुनने तथा जगन्नाथजी का राजवेष में पुष्पांजलि-ग्रहण देखने के बाद सिंहद्वार के पास एकान्त में खड़े हो जाते और मन ही मन भगवन्नाम का जप करते। पुरी के कोई कोई त्यागी विरक्त महात्मा भिक्षा के लिए अन्यत्र न जाकर इसी प्रकार सिंहद्वार के पास खड़े हो जाया करते हैं। सद्‌गृहस्थ तीर्थयात्री तथा पण्डा लोग इन साधु-सन्तों को महाप्रसाद में से ही भिक्षा देते हैं। यह प्रथा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। रघुनाथ के इसी पद्धति से जीवनयापन आरम्भ करने पर गोविन्द ने जाकर चैतन्यदेव को इसकी सूचना दी। रघुनाथ के आहार की सुव्यवस्था त्यागकर कठोर वैराग्य का अवलम्बन करने की बात सुनकर महाप्रभु का मन प्रसन्न हुआ। वे उनके इस आचरण की बड़ी प्रशंसा करते हुए गोविन्द से बोले, "सर्वदा भगवच्चिन्तन और किसी के ऊपर निर्भर न रहकर भिक्षान्न के द्वारा जीवन-निर्वाह करना – यही ठीक ठीक त्यागी का धर्म है; और सच्चे त्याग-वैराग्य के बिना भगवान की कृपा नहीं होती, बल्कि केवल विडम्बना ही हाथ लगती है।" रघुनाथ चैतन्यदेव का बड़ा लिहाज करके रहते थे। वे उनके सम्मुख इतने संकोचपूर्वक रहते कि अधिक बातचीत करने का भी साहस न जुटा पाते थे। अपने साधन-भजन तथा जीवनयापन के बारे में महाप्रभु के श्रीमुख की वाणी और मत सुनने की रघुनाथ के मन में प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हुई और यह बात उन्होंने स्वरूप के समक्ष निवेदित की। एक दिन दामोदर और रघुनाथ दोनों ही चैतन्यदेव के समीप उपस्थित थे। सुयोग देखकर दामोदर स्वरूप ने उनके समक्ष रघुनाथ के चित्त की आकांक्षा व्यक्त की। इस पर चैतन्यदेव हँसते हुए रघुनाथ से बोले, "साध्य-साधन तत्त्व आदि सूक्ष्म विषय जितना स्वरूप जानते है, उतना मुझे नहीं मालूम।

तुम स्वरूप से ही शिक्षा ग्रहण करो, क्रमशः सब कुछ समझ जाओगे।" दामोदर स्वरूप का संकेत पाकर रघुनाथ को साहस हुआ और वे महाप्रभु के मुख से कुछ सुनने के लिए बड़ा अनुनय-विनय करने लगे। चैतन्यदेव इस पर अतीव प्रसन्न हुए और अपने धीर-गम्भीर स्वर में कहने लगे, "ग्राम्य बातें न तो सुनना और न किसी से कहना। न अच्छा खाना और न ही अच्छे वस्त्र पहनना। मानरहित होकर सबको मान देते हुए सदा कृष्ण का नाम लेते रहना। ब्रज में राधाकृष्ण की मानस-सेवा करना।"* (क्रमशः)

---

* ये वाक्य चैतन्यदेव के उपदेशों का सार कहे जा सकते हैं। जो लोग भगवान की कृपा पाने की आशा में सर्वस्व त्यागकर भजन में मनोयोग करना चाहते हैं, उनके लिए ये रक्षाकवच के समान हैं। यहाँ पर हम अपनी सीमित बुद्धि के अनुसार इसकी थोड़ा-बहुत व्याख्या करने का प्रयास करेंगे। (१) ग्राम्य बातें – सामान्य लोग आहार-निद्रा-भय-मैथुन को लेकर ही जीवनयापन करते हैं तथा सर्वदा इन्हीं विषयों पर चर्चा में लगे रहते हैं। इन चर्चाओं में भाग लेने, सुनने अथना बोलने से मन बहिर्मुखी होता है और भोगतृष्णा में वृद्धि होती है। अतः भजनशील व्यक्ति के लिए इस प्रकार की बातों में पड़ना उचित नहीं है। (२) अच्छा खाने-पहनने की ओर मन रहने से चित्त एकाग्र नहीं होता। सर्वदा उन्हीं के लिए कामना तथा प्रयत्न होता रहता है। उत्तम भोजन करने से रजोगुण में वृद्धि होती है तथा काम-क्रोधादि का वेग बढ़ता है। उत्तम पोशाक आदि धारण करने से भोग-विलास की ओर मन जाता है और अभिमान-अहंकार में वृद्धि होती है। भगवान पर पूर्णतः निर्भर होकर अल्प-स्वल्प में सन्तुष्ट रहना ही भजन के अनुकूल है। (३) अहंकार-अभिमान ही जीव को संसार से बाँधनेवाली रस्सियाँ हैं। स्वयं को अज्ञानतिमिरावृत्त अकूल भवार्णव में निम्मजित एवं सवपिक्षा दीन-हीन समझकर नगण्यतम व्यक्ति के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित करना – यही इस पाश के छेदन का एकमात्र उपाय है। लिखा है, "सर्व जीवों को कृष्ण का अधिष्ठान समझकर उन्हें सम्मान देना।" (४) कृष्णनाम अथवा परमेश्वर का अन्य कोई भी नाम इष्टमंत्र के रूप में जप करते करते चित्त शुद्ध होकर, उनमें भक्तिप्रेम का उदय होता है और उनकी कृपा होती है। (५) व्रज में राधाकृष्ण की – गुरु एवं शास्त्र के निर्देशानुसार अपने इष्टदेव के चिन्मयधाम में उनकी सशक्ति सेवा ही भक्त का काम्य है। ऐश्वर्यलेशहीन, माधुर्यहीन, माधुर्यपरिपूर्ण चिन्मय भगवद्धाम ही व्रज कहलाता है। (६) मानस सेवा करना – शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर – इन पाँच रसों में से जो भी भक्त के भावानुकूल हो, तदनुसार वह अपने इष्ट के साथ सम्पर्क जोड़कर, अपने बाह्य दैहिक अभिमान को त्यागकर, उसी सम्पर्क के अनुसार अपने चिदंश स्वरूप अन्तरात्मा को उनका मूर्त विग्रह माने और उनका आश्रय लेकर मन-ही-मन इष्ट की सेवा करते हुए, उनकी कृपा से इस मायिक प्रपंच का अतिक्रम कर अपने भागवती तनु में विद्यमान नित्यलीलाधाम में प्रविष्ट हो।

त्याग और अनासक्ति (२)

स्वामी यतीश्वरानन्द

(स्वामी यतीश्वरानन्दजी महाराज रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष थे। उनका 'Meditation and Spiritual Life' ग्रंथ साधना-क्षेत्र में मार्गदर्शन करनेवाली एक अप्रतिम कृति है। उसी के एक अत्यन्त उपयोगी अध्याय के उत्तरार्ध का अनुवाद हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं, अनुवादक हैं स्वामी ब्रह्मेशानन्द, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत हैं। - सं)

झूठी आशाएँ - पिंगला की कथा

भागवत में पिंगला नामक एक गणिका की कथा है, जिसे धन का बड़ा लोभ था। पर एक दिन किसी ग्राहक के न आने से उसे बड़ी निराशा हुई।

तस्याः वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ता हेतुः सुखावहः।।

– अर्थात वित्त की आशा से शुष्क मुख और दीनचित्ता उसे (पिंगला) चिन्तन के फलस्वरूप परम वैराग्य हुआ, जिससे वह सुखी हो गयी।

वह सचमुच भाग्यशाली थी। बहुत कम लोग उसकी तरह होश में आते है। लोग पूर्व संस्कारों से परिचालित हो उन्हीं गलतियों को बार-बार दुहराते है और उन्हीं घृणित अनुभवों को बार-बार प्राप्त करते हैं। मेरे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्द ने एक बार कहा था – तीन प्रकार के लोग है। पहले प्रकार के लोग दूसरों की गलतियों और अनुभवों को देखकर ही सीख लेते हैं और विपत्तियों से बच जाते हैं। फिर स्वयं गलती करके अर्थात् अपने अनुभव से सबक सीखनेवाले मध्यम श्रेणी के हैं। अधम श्रेणी के लोग बारम्बार गलतियाँ करके भी अपने अनुभव से नहीं सीखते।

किसी भी सांसारिक वस्तु की आशा छोड़कर, केवल परमात्मा की ही आशा करो। परमात्मा ही जीव को सुख दे सकते हैं। सभी वैषयिक वस्तुओं से हमें एक प्रकार की वितृष्णा होना चाहिए। संसार से वैराग्य का यह पहला लक्षण है। सूक्ष्म या स्थूल भोगों से इस वैराग्य के बिना कोई आध्यात्मिक जीवन, या उच्चतर प्रयास सम्भव नहीं। आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिए वैराग्य को हमारे चरित्र का प्रमुख अंग बन जाना चाहिए।

सच पूछो तो हम इच्छाओं तथा झूठी आशाओं पर जी रहे हैं। इसका परिणाम है – दुःख, बन्धन और इन्द्रियों का दासता। आशाएँ त्यागकर हम सुखी होते हैं। अपनी एकमात्र आशा हमें परमात्मा से जोड़े रखना चाहिए।

भावनाओं और इच्छाओं से जुड़ी हुई अन्य सभी आशाओं को त्याग देना चाहिए। हमारी आशाएँ प्रायः हमारी इच्छाओं तथा दूसरों पर टिकी रहती हैं। हम अपनी आशाओं को परमात्मा की ओर केन्द्रित नहीं करते।

परमात्मा हमारी आत्मा की आत्मा के रूप में हमारे भीतर हैं, परन्तु हम उनकी परवाह नहीं करते और दूसरों पर निर्भर रहने का प्रयत्न करते है। परमात्मा सभी आनन्दों के स्रोत हैं। बाह्य विषयों में उनके असीम दिव्य आनन्द का अंश मात्र ही प्रतिबिम्बित होता है। बाह्य पदार्थों के पीछे धावित होने का अर्थ है – प्रतिबिम्बों और परछाइयों के पीछे दौड़ना।

महाभारत में राजा ययाति की कथा है। एक श्राप के कारण वे अपनी युवावस्था में ही सहसा वृद्ध हो गये। पर उन्होंने अपने पुत्र का यौवन लेकर काफी काल तक सुखभोग किया। तथापि उन्होंने पाया कि उनकी विषय भोग की लालसा कम नहीं हुई। तब उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला –

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।[1]

– अर्थात कामनाओं के उपभोग से वे शान्त नहीं होतीं, बल्कि घी के द्वारा अग्नि के समान वे अधिकाधिक वर्धित होती जाती हैं।

कभी न कभी तो त्याग का भाव हममें उदित होना ही चाहिए। सभी में यह पिंगला की तरह आकस्मिक रूप से भले ही न आये, लेकिन हमें ययाति की तरह भ्रमित होकर अपनी सभी वासनाओं के तुष्ट होने तक प्रतीक्षा भी नहीं करनी चाहिए। यदि हम आध्यात्मिक जीवन से कुछ पाना चाहते हैं, तो अनासक्ति हमारे चरित्र का प्रमुख गुण बन जाना चाहिए। पूर्व संस्कारों के कारण हमारे मन में अनेक प्रवृत्तियाँ उदित होती रहती हैं, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि हम असहाय होकर उनके शिकार हो जायें। हमें उन्हें नियंत्रित करना चाहिए। हम ऐसा अवश्य कर सकते हैं, भले ही इससे कुछ समय तक हमारा जीवन आन्तरिक द्वन्द्वों और अत्यधिक तनाव से पूर्ण हो जाय। किसी न किसी दिन हमें इस उत्तेजनापूर्ण जीवन का अन्त करना ही होगा। तो फिर अभी क्यों नहीं?

हमें अपने कार्यों के बारे में स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए तथा सदा सावधान भी रहना होगा, ताकि हम कहीं अपनी सूक्ष्म इच्छाओं तथा

१. भागवत ९/१९/४ ; मनुस्मृति २/९४

भावनाओं का अनुसरण कर ऐसा कुछ न कर बैठें, जो हम नहीं करना चाहते। यदि हममें लोगों से मिलने की इच्छा होती है, तो हमें यह भी जानकारी होनी चाहिए कि वे हमें क्यों आकृष्ट करते हैं। यदि कोई कार्य करने की इच्छा हो, तो उसे करने के पीछे निहित वास्तविक उद्देश्य भी हमें ज्ञात हो। अपनी इच्छाओं के मूल कारण को खोजकर उसे तत्काल नष्ट कर देना चाहिए। सभी हानिप्रद विचारों, आसक्तियों तथा उन सभी बातों को, जो आध्यात्मिक विकास में सहायक न हों, दूर कर देना उचित है। सच्चा त्याग-वैराग्य सभी साधना-प्रणालियों में आवश्यक है। और उसके बिना हम अपने आध्यात्मिक प्रयासों से अधिक लाभ भी नहीं उठा सकेंगे।

आध्यात्मिक जीवन को प्रारम्भ करने के पूर्व हममें त्याग का भाव होना ही चाहिए, भले ही इसमें समय लगे। पवित्रता की आन्तरिक इच्छा और अभिलाषा भी आवश्यक है। आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ करने की यह न्यूनतम शर्त है और इसका अर्थ है मानसिक तनाव। इन्द्रियों और उद्वेगों को नियंत्रित करने के लिए कठिन संघर्ष करना पडता है। लेकिन प्रत्येक साधक को लक्ष्य की दिशा में इस प्रारम्भिक अवस्था से होकर गुजरना ही पड़ता है। त्याग का मनोभाव सभी सच्चे आध्यात्मिक प्रयासों का आधार है। इस वैराग्य के बिना आध्यात्मिक जीवन के विषय में सोचना ही व्यर्थ है, बल्कि उसकी जगह किसी अन्य कार्य में मन बहलाना ही अधिक समझदारी होगी।

वितृष्णा का भाव

अपने जीवन में गल्ती का आभास होने पर, हममें संसार के भोगों के प्रति वितृष्णा के रूप में पहली प्रतिक्रिया होती है। जिस घृणा का पिंगला ने अपनी देह के विषय में अनुभव किया था, वह भोगपरक जीवन के अन्त में होनेवाली पहली प्रतिक्रिया है। यह केवल पापबोध से कहीं अधिक सम्यक् परिवर्तन का द्योतक है। अपने पापों का चिन्तन करनेवाला उनसे चिपका भी रह सकता है, परन्तु ग्लानि का भाव सांसारिक जीवन से तत्काल आध्यात्मिक जीवन की ओर मोड देता है। आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने वाले व्यक्ति को पिंगला की तरह स्वयं से यह कहने का साहस होना चाहिए -

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्यस्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद् विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या।।[२]

२. भागवत ११/८/३३

– अर्थात अस्थियों रूपी बाँसों पर त्वचा, नख, रोम आदि से आच्छादित, बहते नवद्वारों से युक्त तथा विष्ठा और मूत्र से परिपूर्ण इस देहरूपी घर को मेरे सिवा और कौन महत्त्व देगा।

आध्यात्मिक जीवन के प्रति अपने झुकाव को हम अपनी देह के प्रति घृणा के भाव से जान सकते हैं। यदि हममें यह भाव हो, तो दूसरे स्त्री या पुरुष हमें आकर्षित नहीं कर सकेंगे। तब वे आध्यात्मिक पथ के अन्धकूप की भाँति नहीं होंगे। पतंजलि अपने योगसूत्रों में कहते हैं –

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।[3]

– बाह्याभ्यन्तर शौच (के अभ्यास से) अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा या घृणा और दूसरों के साथ असंसर्ग का भाव प्राप्त होता है।

अधिकाधिक अर्न्तमुखी होने पर हमारा मन मानसिक एक्स-रे सा हो जाता है और हम चारों ओर चल रहे जीवन के विषय में गहरी अर्न्तदृष्टि प्राप्त कर लेते हैं। पहले ग्लानि का भाव आता है। इसके बाद मानव देह रूपी कचरे के पीछे स्थित आत्मा की महिमा का बोध होता है। आत्मा की वास्तविक अनुभूति बाद में होती है, पर प्रारम्भिक अवस्था में भी इस सिद्धान्त को हृदयंगम तो किया ही जा सकता है।

बौद्धिक धारणाएँ पर्याप्त नहीं होती। हमें भावनात्मक दृष्टि से भी प्रभावित होना चाहिए। हममें सचमुच ही भोगों के प्रति तीव्र वितृष्णा होनी चाहिए। भर्तृहरि की तरह हमें भी अनुभव करना चाहिए -

भोगा न भुक्ता बयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं बयमेव तप्ताः।
कालो न यातो बयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा बयमेव जीर्णाः।।[4]

- अर्थात भोगों को भोगा नहीं गया, बल्कि हम ही भोगे गये; तप नहीं हुआ, बल्कि हम ही परितप्त हुए। कालयापन नहीं हुआ, पर हमारा ही समय आ गया। तृष्णा क्षीण नहीं हुई, हम ही जीर्ण हुए हैं।

सन्तों के दृष्टान्त

वैराग्य की साधना हम सन्तों के जीवन से सीख सकते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव सन्त लाल बाबा का ही दृष्टान्त लें। प्रौढ़ावस्था तक उन्होंने भोगपरायण जीवन बिताया। फिर एक दिन घर लौटते समय उन्होंने धोबी

३. पातंजल-योगसूत्र २/४०, ४. वैराग्यशतकम् ७

की कन्या को अपने पिता से कहते सुना, "पिताजी, देर हो रही है, वासना में आग कब लगाओगे।" वासना शब्द के बँगला में दो अर्थ हैं। एक है कदलीवृक्ष की छालें, जिन्हें सुखा और जलाकर धोबी पहले साबुन का काम लेते थे। इसका दूसरा अर्थ सोये हुए मानसिक संस्कार भी हैं। लालबाबा ने शब्द का दूसरा अर्थ लिया। उन्हें सहसा बोध होने लगा कि वे वृद्ध हो चुके हैं और अभी तक उन्होंने अपने अपवित्र संस्कारों का नाश नहीं किया है। उन्होंने तत्काल संसार त्याग दिया।

उत्तर भारत के महान सन्त तुलसीदासजी आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने के पूर्व अपनी पत्नी में अत्यधिक आसक्त थे। इतने दिवाने थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे एक दिन के लिए भी उसका विछोह सहन नहीं कर सके। वे उसी रात अनेक बाधाओं को पार करते हुए उसके पास दौड़ पड़े। इस पर पत्नी ने उन्हें झिड़कते हुए कहा, "जैसी तीव्र आसक्ति के साथ तुम मेरी देह को चाहते हो, यदि उतना ही प्रेम तुम भगवान से करते, तो तुम्हें उनकी प्राप्ति हो जाती।" इन शब्दों ने तुलसीदास की आत्मा को ढँक रहे अज्ञान के आवरण को चीर डाला और वे तत्काल पत्नीसहित सब कुछ त्यागकर अध्यात्म के पथ पर अग्रसर हो गये।

त्याग के प्रकार

हमें सन्तों के जीवन में पायी जाने वाली वैराग्य और करुणा की तीव्रता को कुछ मात्रा में अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। उपरोक्त प्रकार के सहसा-पूर्ण वैराग्य के दृष्टान्त विरल हैं। अधिकांश लोग जीवन में कठोर आघात पाने के बाद भी त्याग को केवल अस्थायी रूप से ही ग्रहण करते हैं। अनेक लोग तो बाद में काम-कांचन में और भी अधिक आबद्ध हो जाते हैं तथा मानवीय प्रेम के तमाशे में कठपुतली-से बन जाते हैं। तब वे कहते हैं, "ओह! हम जानते हैं कि आध्यात्मिक जीवन क्या है! हमने कुछ समय तक उसका अनुसरण किया था। परन्तु वह इतने परिश्रम के उपयुक्त नहीं है, बल्कि मानवीय सम्बन्धों से युक्त यह सांसारिक जीवन ही श्रेष्ठ है। हम एक दूसरे के लिए बने हैं।" ये सारी बातें दुर्बल और अव्यवस्थित मन का द्योतक है। त्याग तीन प्रकार के होते हैं –

१. झूठा त्याग, जिसमें व्यक्ति बाह्य कर्मों का तो त्याग कर देता है, लेकिन सांसारिक वस्तुओं एवं भोगों की तीव्र लालसा रखता है।

२ सच्चे साधक का आन्तरिक त्याग, जो पुरुषार्थ द्वारा अपने त्याग को बनाये रखता है, पर सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकी है।

३. सिद्ध पुरुष का सच्चा त्याग, जिसमें सभी द्वन्द्व और तनाव सदा के लिए समाप्त हो गये हैं। एक प्रसिद्ध श्लोक है –

भोगे रोग भयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।[५]

– भोग में रोग का भय है, उच्च कुल में सम्मान से च्युत होने का भय है, वित्त में राजा का भय है, सम्मान में अनादर का भय है, बल में शत्रु का भय है, सौंदर्य में बुढ़ापे का भय है, शास्त्रज्ञान में प्रतिवादी का भय है, गुणों में दुष्टों की निन्दा का और काया में मृत्यु का भय है। सभी वस्तुएँ भय से ग्रसित हैं, एकमात्र वैराग्य ही भयरहित है।

मानसिक अनासक्ति

संसार का केवल बाह्य त्याग करने मात्र से ही हम मन, वचन व कर्म से तत्काल पवित्र नहीं हो सकते। पहले कुकर्म का, फिर बुरे विचारों का त्याग करो, जो उससे भी अधिक कठिन है। बुरे विचारों की तुलना में बुरी आदतें त्यागना आसान है। चित्त की पवित्रता सबसे कठिन है। यह कठिनाई सापेक्ष नैतिकता के स्तर पर है, जहाँ शुभ और अशुभ दोनों की सत्ता है और जब तक हम इस स्तर पर रहते हैं, तब तक हमें अशुभ को त्यागकर शुभ को ग्रहण करने का प्रयत्न करना पड़ता है। पूर्व संस्कारों तथा आदतों के कारण अशुभ घुस आना चाहता है और यदा-कदा वह सफल भी हो जाता है। हमें इच्छाशक्ति का उपयोग कर उसके बदले शुभ विचार लाने पड़ते हैं। यह खींच-तान सबके लिए अनिवार्य है। आगे बढ़ने पर यही संघर्ष सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है और स्थूल तथा प्राकृत स्तर के शुभाशुभ से उठने पर हमें उनके सूक्ष्म रूपों का सामना करना पड़ता है।

बुरे मित्रों का संग त्यागना बड़ा आसान है। हम आसानी से सांसारिक चर्चा और सांसारिक संग से दूर रह सकते हैं, लेकिन अपने पुराने सांसारिक मित्रों तथा उनसे जुड़ी अपवित्र स्मृतियों को दूर करना कहीं अधिक कठिन

५. भर्तृहरिकृत वैराग्यशतकम् २१

है। ऐसे में क्या किया जाय? अपने परित्यक्त मित्रों का आन्तरिक संग उनके बाह्य सम्पर्क से कहीं अधिक खतरनाक है। सबसे पहले तो दृढ़तापूर्वक अपने सभी पूर्व सम्पर्कों को काट डालो और बाह्य जगत के नये संवेदनों से दूर रहो। इसके बाद थोड़ा आत्म-विश्लेषण करो। पता लगाओ कि ये पूर्व स्मृतियाँ मन में क्यों उठती हैं। निर्मम विवेक के द्वारा सभी पूर्व स्मृतियों तथा चित्रों से अपने मन को अलग करो। मन को निरन्तर शक्तिशाली सुझावों के द्वारा उसे राग-द्वेषमय जीवन की निरर्थकता का बोध कराओ। पुरानी गर्द को साफ करते रहो और सजग रहो कि नयी गर्द न जमने पाये। क्रमशः तुम देखोगे कि तुम्हारा मन स्वच्छतर और सबलतर हो रहा है।

स्थूल और सूक्ष्म स्तर के सभी संघर्षों के दौरान हमें यथासम्भव अपने इष्ट के नाम तथा रूप के शुभ चिन्तन में लगे रहकर अशुभ विचारों को दूर करना चाहिए, लेकिन कभी कभी दूषित कल्पना के कारण अवांछित चित्र हमारे प्रयत्नों के बावजूद बहुत सजीव हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में पवित्र मंत्र का जाप करते हुए हमें अपवित्र विचारों के प्रति एक साक्षी या द्रष्टा का भाव अपनाकर उनके चंगुल से मुक्त हो जाना चाहिए। विस्मृति के क्षणों में अशुभ विचारों के साथ तादात्म्य होने पर, बिना कोई बुरा कर्म किए भी हम उनके द्वारा शारीरिक व मानसिक रूप से प्रभावित हो सकते हैं। पर खूब सतर्क होने पर तथा तादात्म्य से बचने के प्रयत्न से, उनके उठने के पहले ही हम उन्हें दूर कर सकते हैं। उच्च स्तर की यह अनासक्ति, आत्मा की यह आन्तरिक निर्लिप्तता साधकों के लिए बहुत लाभप्रद है। सच्ची आध्यामिक अनुभूति की उपलब्धि होने पर यह निर्लप्तता स्वाभाविक हो जाती है।

कुछ परिस्थितियों में अशुभ विचारों को रोका नहीं जा सकता, पर अभ्यास द्वारा उनको एक ऐसी मरीचिका के रूप में देखा जा सकता है, जिसके अनित्यता के बारे हमें बोध हो चुका है। प्रतीति को रोका नहीं जा सकता, लेकिन उसे प्रतीति के रूप में, सत्य के सदृश दिखनेवाली, परन्तु स्वरूपतः असत्य के रूप में देखा जा सकता है। और नामरूपात्मक दृश्य जगत की अनित्यतता को तथा उसके पार्श्व में प्रतिष्ठित परमात्मा को देखने का प्रयत्न करना चाहिये। सभी स्थूल रूपों के पीछे विद्यमान परम सत्ता को पहचान लेने पर हम सचमुच उनसे अप्रभावित रह सकेंगे। यदि संघर्ष के दौरान न्यूनाधिक मात्रा में हम उनसे प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकते, तो भी हमें इस च्युति

पर बारम्बार अफसोस के बदले परमात्मा का ही चिन्तन करना चाहिये।

संसार वृक्ष

हिन्दू शास्त्रों में संसार की तुलना एक वृक्ष से की गई है। यह एक प्राचीन रूपक है। श्रीमद्भागवत (११/१२/२२) में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है – "इस संसार वृक्ष के दो बीज, सौ जड़ें, तीन तने, पाँच शाखाएँ तथा ग्यारह प्रशाखाएँ हैं। उनसे पाँच प्रकार का रस निकलता है। उस पर दो पक्षियों के नीड़ हैं। वह सूर्य तक विस्तीर्ण है, उसकी छालों की तीन परतें हैं, और वह दो प्रकार के फल देता है।" श्लोक में कथित दो बीज पाप और पुण्य हैं, जड़ें असंख्य वासनाएँ हैं, तने सत्त्व, रज तथा तमोगुण हैं। मुख्य शाखाएँ पंचमहाभूत – पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश हैं, ग्यारह प्रशाखायें इन्द्रियाँ व मन हैं। रस इन्द्रियों के विषय हैं, दो पक्षी जीवात्मा तथा परमात्मा हैं; छाल की परतें वात, पित्त व कफ और दो फल सुख तथा दुख हैं। यह वृक्ष सूक्ष्म ब्रह्माण्ड या बृहत ब्रह्माण्ड का भी प्रतीक हो सकता है। वृक्ष के विषय में सही ज्ञान होने पर ही उससे मुक्त हुआ जा सकता है। अपने तथा संसार के प्रति भी सही दृष्टिकोण होना चाहिये। यह वृक्ष महान ईश्वरीय शक्ति के गर्भ से उत्पन्न होता है। व्यक्ति और विराट् के सम्पर्क को जानने के लिये मन को उच्चतर केन्द्रों पर उठाना पड़ता है।

वृक्ष की जड़ें हमारी असंख्य इच्छाओं तथा वासनाओं की प्रतीक हैं। ये इच्छाएँ, अपने व्यक्तित्व के प्रति आसक्ति तथा विषयभोगों की तृष्णा – ये ही हमारी समस्त समस्याओं के मूल कारण हैं। भक्ति तथा निष्काम कर्म इन जड़ों के पाश से हमें मुक्त करते हैं।

यदि सभी जड़ें कट जायँ, तो पूरा वृक्ष ही गिर पड़ेगा। लेकिन ऐसा बिरले ही होता है। हम अधिक-से-अधिक अपनी कुछ कामनाओं को ही नष्ट कर पाते हैं। बची हुई जड़ों से वृक्ष जीवित रहता है। कामना की सभी जड़ों को काटना इतना आसान नहीं है।

लेकिन हमें निराश होने की भी आवश्यकता नहीं। यदि साधना हमारी निम्न प्रकृति को, वासना की जड़ों को अधिकाधिक व्यक्त करती है, तो भी हमें हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। बहुत-सी बुरी स्मृतियाँ और सहज वृत्तियाँ अचेतन मन की गहराई में दबी पड़ी हैं। हमारे अनजाने ही वे काफी काल से वहाँ विद्यमान हैं। यदि कभी वे ऊपर आने लगें, तो हमें बल्कि प्रसन्न होना

चाहिये कि उनका पता तो चल गया। हमारे अन्तर की वास्तविक स्थिति को जानकर हमें शान्त तथा स्थिर बुद्धि से अपनी सभी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ना होगा। इसके विपरीत यदि हम उन विचारों को छिपायें और ऐसा दिखाएँ मानो वे हैं ही नहीं, तो हम स्वयं को ही धोखा देंगे और अपनी आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध कर देंगे। स्वयं के प्रति पूर्णतः निष्कपट होना बड़ा कठिन है। पर सत्य तो यह है कि निष्कपटता सर्वदा हमारे विकास की ही द्योतक है। यदि हम अपने दोषों को स्वयं ही स्वीकार न करें, तो हम अपने जीवन की समस्याओं का सामना करने का साहस भला कैसे जुटा पायेंगे। अचेतन मन में बातों को छिपाये रखना समस्या का समाधान नहीं है, बल्कि ऐसा करके हम स्वयं को ही धोखा देते हैं।

ईसाई धर्म में पाप-स्वीकृति की प्रथा अचेतन मन की बातों को खाली करने की इस समस्या का आंशिक समाधान प्रस्तुत करती है। परन्तु यह सदा सफल नहीं हो पाती, क्योंकि साधना के अभाव में अधिकांश लोग आत्म-निरीक्षण की क्षमता का विकास कम ही कर पाते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि इस रस्म से जुड़े अनुष्ठानों का प्रायः उल्टा ही असर होता है।

दूसरा उपाय है, अचेतन मन से बुदबुदों की तरह उठ रहे विचारों को परमात्मा के समक्ष रखना। उनसे अपने पूर्व संस्कारों से मुक्ति के हेतु हृदय से प्रार्थना करो। प्रार्थना अचेतन मन की शुद्धि का एक प्रभावी उपाय हो सकता है। मन में उठ रहे बुरे विचारों से घबराओ मत। अन्य सभी वस्तुओं की तरह उन्हें भी परमात्मा को अर्पित करो। ऐसा उन्हीं के लिये सम्भव है, जिन्हें ईश्वर में अत्यधिक विश्वास हो।

एक और तरीका है, जो सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ है। और वह है मन में उठ रहे सभी विचारों के सम्मुख, चाहे वे कितने ही वीभत्स क्यों न हों, साक्षी के रूप में स्थित रहना। किसी बुरे मनोवेग अथवा विचार को पहले पहचाने बिना उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। हमारे मन की गहराई में सैकड़ों अपवित्र विचार पड़े हों, तो भी क्या? उनसे स्वयं को निर्लिप्त रखना ही अधिक महत्वपूर्ण है। जब हमारा चेतन मन उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तभी वस्तुतः वे हमारे हो जाते हैं और कष्ट देते हैं। लेकिन यह जानकर कि आत्मा शुद्ध और निर्लिप्त है, हम साक्षी बने रहकर अपवित्र विचारों से अप्रभावित रह सकते हैं। साधक को इससे काफी सहायता मिलती है। अपने

वास्तविक स्वरूप का चिन्तन अधिक करो और अपने अच्छे या बुरे विचारों से तादात्म्य स्थापित करना बन्द कर दो। क्रमशः तुम अपने विचारों का अतिक्रमण करने में तथा आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहने में समर्थ हो सकोगे।

ज्ञान कुठार

श्रीमद्भागवत में वर्णित संसार जिस वृक्ष का उल्लेख किया गया है, उसे काटें कैसे? श्रीकृष्ण उद्धव को इसे काटने का उपाय बताते हैं –

एवं गुरुपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्।।[६]

– अर्थात् इस प्रकार एकनिष्ठ भक्ति से की गई गुरु की उपासना द्वारा ज्ञानरूपी कुल्हाड़ी की धार को पैनी कर लो और धैर्य तथा सावधानीपूर्वक जीवाशय में दृढ़मूल संसार वृक्ष को काट डालो। फिर परमात्मा के साथ एकरूप होकर उन अस्त्रों को भी त्याग दो।

मन की विवेक-शक्ति ही ज्ञानकुठार है। भोथरे अस्त्र अर्थात् स्थूल बुद्धि से कुछ भी नहीं हो सकता। आलसी मन की सहायता से कभी संसार-वृक्ष को काटा नहीं जा सकता। निरन्तर संघर्ष से मन को तीक्ष्ण तथा सजग बनाये रखकर ही इसका उच्छेदन आरम्भ किया जा सकता है। इसमें समय लगता है। आत्मा की उपलब्धि न होने तक इस अस्त्र को त्यागा नहीं जा सकता।

अनेक लोग आध्यात्मिक जीवन बिताने का प्रयास करते हैं, परन्तु थोड़े लोग ही उसके लिए कष्ट झेलने को तैयार होते हैं। यही सारी कठिनाई का मूल है। विश्व के समस्त धर्मों के पुरातन ऋषियों के सन्देश को प्रतिध्वनित करती हुई स्वामी विवेकानन्द की देववाणी क्या कहती है, सुनो – "स्वर्ग में जाकर एक वीणा पाऊँगा और उसे बजाकर यथासमय विश्राम सुख का अनुभव करूँगा – ऐसी अपेक्षा मत करो। क्यों न यहीं एक वीणा लेकर बजाना आरम्भ कर दो? स्वर्ग के लिए राह देखने की क्या आवश्यकता? इसी लोक को स्वर्ग बना डालो। स्वर्ग में विवाह नहीं होता, पाणिग्रहण नहीं होता। यदि ऐसा है तो यहीं पर अभी से विवाह क्यों न बन्द कर दो? संन्यासियों का गैरिक वस्त्र मुक्तपुरुषों का चिन्ह है। संसारी भिक्षुओं का वेष छोड़ दो; मुक्ति की पताका – गैरिक वस्त्र धारण करो। पृथ्वी पर जो कुछ पवित्रतम एवं सर्वोत्कृष्ट है, उसे ईश्वर की वेदी पर बलिस्वरूप अर्पित कर दो। जिन्होंने कभी

६. भागवत ११/१२/२४

त्याग की चेष्टा नहीं की, उनकी अपेक्षा जो चेष्टा करते हैं, वे बहुत अच्छे हैं। एक त्यागी मनुष्य को देखने से भी हृदय पवित्र होता है। ईश्वर को प्राप्त करूँगा, केवल उन्हीं को चाहता हूँ – यह कहकर दृढ़ भाव से खड़े हो जाओ, संसार को उड़ जाने दो। ईश्वर तथा संसार, इन दोनों के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो। संसार का त्याग करो, केवल ऐसा करने से ही तुम देहबन्धन से मुक्त हो सकोगे। और इस प्रकार देह से आसक्ति हट जाने के बाद, देहत्याग होते ही तुम मुक्त हो जाओगे। मुक्त हो जाओ, केवल देह की मुक्ति ही हमें मुक्ति नहीं दे सकती। जीवित रहते ही हमें अपनी चेष्टा के द्वारा मुक्तिलाभ करना होगा। तभी देहपात हो जाने पर पुनर्जन्म नहीं होगा। ...'पवित्र हृदयवाले धन्य हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे।' जगत के सभी शास्त्र तथा अवतार यदि लुप्त हो जायँ, तो भी एकमात्र यह वाक्य समस्त मानव जाति को बचा सकेगा। हृदय की इस पवित्रता से ही ईश्वर का दर्शन होगा। विश्वरूपी समग्र संगीत में यह पवित्रता ध्वनित होती है। पवित्रता में कोई बन्धन नहीं। पवित्रता के द्वारा अज्ञानरूपी आवरण को दूर कर दो, तब हमारा यथार्थ स्वरूप व्यक्त होगा और हम जान लेंगे कि हम किसी काल में बद्ध नहीं थे। नानात्व दर्शन ही जगत में सबसे बड़ा पाप है। सबको आत्मरूप ही देखो तथा सबसे प्रेम करो, भेदभाव को पूर्ण रूप से दूर कर दो।"[८]

८. विवेकानन्द साहित्य, सप्तम खण्ड, (१९६३) पृ. १०८, ११९, १२१

जीवन यात्रा – थोड़ा यूँ भी देखें (३)

स्वामी सत्यरूपानन्द

मार्ग या रास्ता

हमने अपने जीवनयात्रा के वाहन पर विचार किया। आइये अब थोड़ा उस रास्ते के विषय में भी विचार करें जिस पर चलकर हमें यात्रा के अंतिम पड़ाव या गंतव्य पर पहुँचना है। रास्ते के विषय में भी यात्री को ठीक ठीक जानकारी होनी चाहिये। रास्ता ठीक ठीक मालूम होगा तभी तो हम उस पर चलकर गंतव्य पर पहुँच सकेंगे।

रास्ते के विषय में यह विशेष रूप से स्मरण रखना होगा कि रास्ते केवल दो हैं। एक बाहर की ओर और दूसरा भीतर की ओर ले जानेवाला। इनके उपरास्ते या शाखाएँ, गलियाँ, अनेक हो सकते हैं। बाहर का रास्ता यात्री को गंतव्य से बहुत दूर ले जाता है। वह यात्री को गंतव्य से दूर ही हटाता जाता है।दूसरा रास्ता है भीतर का। यह रास्ता यात्री को गंतब्य की ओर ले जाता। भीतर के रास्ते पर चलनेवाला यात्री गंतव्य के निकट से निकट होता जाता है। भीतर के रास्ते पर चलनेवाला यात्री ही एक दिन गंतव्य पर पहुँच पाता है। बाहर के रास्ते पर चलने वाला नहीं ।

इन दोनों रास्तों को हमारे मनिषियों ने कई नाम दिये । सरल शब्दों में बाहर जानेवाले का नाम है संसार का रास्ता और भीतर जानेवाले का नाम है परमार्थ का रास्ता। यात्री इन्हीं दो रास्तों में से किसी एक पर चलते हैं। हम सभी यह जानते हैं कि दो रास्तों पर एक साथ नहीं चला जा सकता और विशेषकर जब वे रास्ते एक दूसरे के विरुद्ध दिशा में चल रहे हों तब।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि प्रत्येक यात्री को चाहे वह जाने या न जाने, उसे अच्छा लगे या न लगे, एक न एक दिन जीवनयात्रा के इस दुराहे पर खड़ा होना ही पड़ता है और स्वयं उसे ही फैसला करना पड़ता है कि वह किस रास्ते पर चले – बाहर के संसार के रास्ते पर या भीतर के परमार्थ के रास्ते पर। यह फैसला हमारे लिए कोई अन्य नहीं कर सकता। जितना भी कठिन और कडुआ क्यों न लगे अपने लिये हमें स्वयं फैसला करना होगा। यह चाहे आज करें या सौ जनम बाद, फैसला तो हमें ही करनहोगा।

आज से हजारों साल पहिले एक घटना हुई। उस घटना ने हमेशा के

लिये आदमी के सामने इस बात को खोलकर रख दिया कि भाई, देखो जीवन यात्रा के दोराहे पर तुम्हें खड़ा होना ही पड़ेगा और उस समय दोनों रास्ते तुम्हारे सामने अपनी अपनी बात रखेंगे। अपनी अपनी विशेषताएँ तुम्हारे सामने रखेंगे। यमराज ने भी नचिकेता से यही बात कही थी कि नचिकेता, देखो मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय, तुरंत अच्छी लगनेवाली, इन्द्रियों को सुख देनेवाली तथा प्रारंभ में कठिन और अलोनी लगनेवाली, किंतु बाद में परम सुख देनेवाली दोनों चीजें मनुष्य के सामने आती हैं। जो बुद्धिमान हैं, वे दोनों पर भलीभाँति विचार करके जो परम कल्याणकारी है, चाहे वह कितना ही अरुचिकर और कठिन क्यों न हो, उसे स्वीकार करते हैं। किंतु जो लोग मंदबुद्धि हैं वे तत्काल सुख और संग्रह, परिग्रह आदि के लोभ में पड़कर तुरंत सुख देनेवाले और थोड़ी देर के लिए रुचिकर लगनेवाले रास्ते को चुन लेते हैं।[१]

महाभारत का युद्ध होगा। यह निश्चित हो गया । अर्जुन और दुर्योधन दोनों ही भगवान कृष्ण को अपनी ओर से युद्ध करने के लिये निमंत्रण देने पहुँचे। दुर्योधन पहिले पहुँचा था, किंतु भगवान ने अर्जुन को पहिले देखा। और बस जीवनयात्रा के दुराहे पर खड़े होने का प्रसंग आ गया। भगवान ने अर्जुन और दुर्योधन से कहा कि तुममें से एक पहिले आया और दूसरे को मैंने पहिले देखा, इसलिए मैं तुम दोनों का निमंत्रण स्वीकार करूँगा। पर मेरी एक शर्त है – एक ओर मेरी चतुरंगिणी सेना रहेगी, जो सभी को जीतने में समर्थ है और दूसरी ओर मैं अकेला निःशस्त्र रहूँगा तथा मैं युद्ध नहीं करूँगा। तुम्हें इन दोनों में से किसी एक का वरण करना होगा, चुनाव करना होगा।

अर्जुन को भगवान ने पहिले देखा था तथा वे उम्र में भी दुर्योधन से छोटे थे, इसलिये भगवान ने अर्जुन को ही पहिले चुनाव करने का अवसर दिया। अर्जुन ने बिना किसी झिझक के निशस्त्र, युद्धविरत भगवान का चयन कर लिया और इसके बाद की घटनाओं से आप सभी परिचित हैं।

यही श्रेय और प्रेय का मार्ग है। भगवान की चतुरंगिणी सेना मानो सांसारिक संपदा, वैभव और विषय सुख का प्रतीक है और भगवान परम श्रेय के प्रतीक हैं । बाहर का रास्ता दुर्योधन का रास्ता है। भगवान की चतुरंगिणी सेना पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अर्जुन को मूर्ख समझा। उसने

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। २।१।२ कठ०

अपने प्रेय के रास्ते को चुना। अर्जुन का श्रेय का रास्ता था। यही भीतर का रास्ता है। इसी रास्ते पर चलकर जीवन के चरम गंतव्य पर पहुँचा जा सकता है।

हम सभी यात्रियों के सामने ये दोनों रास्ते हैं। हम दुराहे पर खड़े हैं। हमें चुनाव करना है। निर्णय लेना है। परीक्षा देनी है। कठिन परीक्षा देनी है। रास्ते के इस चुनाव पर ही हमारे भविष्य का निर्णय होना है। हम जीवनयात्रा के चरम गंतव्य पर पहुँचने के अधिकारी होंगे या अनंत काल तक जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहना हमारी नियति होगी। यह सब इस चुनाव पर ही निर्भर करता है। हम बाहर का रास्ता चुनते हैं या भीतर का – यह चुनाव हमें आज और अभी करना है। इसे भविष्य के लिये टालना विपत्ति और विनाश को निमंत्रण देना होगा।

यात्रापत्र (टिकिट) और पाथेय

हमने गंतव्य, वाहन, तथा मार्ग पर विचार किया। आइये अब जीवनयात्रा के 'यात्रा पत्र' टिकिट पर भी थोड़ा विचार करें। किसी भी यात्रा के लिये हमें टिकिट या यात्रापत्र लेना पड़ता है। जीवनयात्रा के वाहन का टिकिट है 'कर्म'। यह बड़े पते की और समझने की बात है। इन ढाई अक्षरों में जीवन की सफलता का रहस्य छिपा है। यह ढाई अक्षर का तत्त्व हमें जीवन के चरम गंतव्य पर पहुँचाकर जीवनमुक्ति का आनंद दे सकता है। हमारा मानव-जीवन सार्थक कर सकता। किन्तु दूसरी ओर यदि इसे समझने में भूल हो गई। प्रमाद और असावधानी हो गई तो यही ढाई अक्षर का कर्म हमें संसार में भटकाकर नरक में भी गिरा सकता है। इसलिए कर्म के संबंध में बहुत सजग और सावधान रहने की आवश्यकता है।

यह कर्म है क्या? वैसे मानवजीवन की प्रत्येक क्रिया ही कर्म है। किंतु सभी कर्म बंधन या मुक्ति का कारण नहीं होता इसलिये सभी कर्म जीवनयात्रा का टिकिट भी नहीं होता। कर्ता और भोक्ताबुद्धि अर्थात मैं यह कर्म करने वाला हूँ, इसलिये इसका फल भी मुझे मिले। ऐसा भाव रहने पर ही कर्म का परिणाम होता है। यह कर्म सत्कर्म भी हो सकता है और असत्कर्म भी हो सकता है और ये दोनों भाव के अनुसार बंधन के कारण हो सकते हैं।

हमने प्रारंभ में ही यह ठीक किया था कि हम अपने जीवन के अनुभव के आधार पर ही अपनी जीवनयात्रा के संबंध में विचार करेंगे तथा उसमें आवश्यक प्रयोग और परिवर्तन करेंगे।

आइये अपने अनुभवों के आधार पर हीअपनी जीवनयात्रा पर विचार करें। जन्म से लेकर किशोरावस्था के प्रारंभ तक अर्थात होश में आते तक हम अपने कर्मों के लिये प्रायः जिम्मेदार नहीं होते। बुजुर्गों ने जैसा बताया, जैसा करवाया हम वैसा ही करते हैं। उसकी जवाबदारी हम पर नहीं होती। माता- पिता ने स्कूल भेजा, हम चले गये। शिक्षक-शिक्षिकाओं ने जो पढ़ाया-सिखाया सीख लिया। और भी इसी तरह के सब काम सीखते रहे।

हमारे सिर पर जवाबदारी तब आती है जब हम फैसला करने का अधिकार अपने हाथों में ले लेते हैं। जब हम यह निर्णय लेते हैं कि हम क्या करेंगे और क्या नहीं करेंगे? हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये? तभी अपने कर्मों के लिये हम जवाबदार होते हैं और उनका फल भी हमें मिलता है। बस यहीं से हमारे जीवन में कर्म का प्रभाव शुरू हो जाता है। हम कर्म के कर्त्ता और भोक्ता हो जाते हैं। इसी घड़ी से कर्म हमारी जीवनयात्रा का टिकिट बन जाता है।

अब अपने अनुभवों को देखें। हमने कबसे फैसला करना शुरू किया? जबसे हमने फैसला करना शुरू किया, तबसे हम किस उद्देश्य से कर्म करते जा रहे हैं, यह हमें ठीक ठीक देखना होगा, निष्पक्ष और निर्मम होकर अपने कर्मों तथा उनके पीछे के उद्देश्यों को जानना होगा, उनकी परीक्षा करनी होगी, विश्लेषण करना होगा। कर्मों के पीछे हमारा उद्देश्य, कर्मों के प्रति हमारी दृष्टि, ये ही हमारी जीवन यात्रा के निर्णायक तत्व हैं। इनसे ही यह निश्चय होगा कि हम अपनी जीवनयात्रा में सही दिशा में चल रहे हैं या गलत दिशा में चल रहे हैं? हम अपनी यात्रा के चरम गंतव्य पर पहुँचेंगे या उससे भटक गये हैं। हम स्कूलों या कालेजों में गये, विभिन्न डिग्रियाँ हासिल की। अनेक प्रकार के हुनर सीखे, कलायें सीखी। व्यापार का गुर सीखा, हिसाब किताब सीखा। टेक्स-प्लानिंग सीखी। बिजनेस मैनेजमेंट सीखा। राजनैतिक बड़े पदों पर पहुँचे, अधिकारी हुये और भी न जाने क्या क्या किया और क्या क्या हुए।

अब देखना यह है कि हम चाहते क्या हैं? इन सभी कर्मों में हमारा उद्देश्य क्या है? हम बाहर की ओर जाना चाहते हैं या भीतर की ओर। हम संसार चाहते हैं या परमार्थ चाहते हैं? यदि हम संसार और उसके सुख चाहते, तो हमने बाहर की ओर जाने वाली गाड़ी की टिकिट ले ली है। हम बाहर जानेवाली गाड़ी में यात्रा कर रहे हैं। यह गाड़ी हमें जीवनयात्रा के चरम गंतव्य

की उल्टी दिशा में ले जायेगी। हम गंतव्य से निरंतर दूर होते जायेंगे। यह चिंताजनक बात है। यदि हम अभी सावधान न हुए और यात्रा की दिशा न बदली, तो हमारा जीवन निरर्थक और व्यर्थ हो जायेगा। भले ही दुनिया के लोगों की नजर में हम कितने बड़े आदमी क्यों न हों? हम चाहे कितने बड़े पद पर क्यों न हों? चाहे जितना भी हमारा मान-सम्मान क्यों न हों, हमारी जीवनयात्रा विफल हो जायेगी, हमारा जीवन निरर्थक और व्यर्थ हो जायेगा। जन्म-मरण के फेरे में पड़कर हम नीच से नीच योनियों मे भी जा सकते हैं। यह एक बहुत बड़ा खतरा है।

अब देखें कि सही गाड़ी में बैठने का उपाय कया है उसकी टिकिट कैसी है। कर्म के टिकिट के संबंध में एक पते की बात याद रखनी होगी। इसमें हमें टिकिट नहीं बदलनी पड़ती। यात्रा की दिशा बदली, बाहरवाली गाड़ी को छोड़कर भीतर जानेवाली गाड़ी पकड़ी कि इसमें भी 'कर्म' का ही टिकिट चलता है, बस थोड़ा बहुत अंतर करना पड़ता है। टिकिट में भीतर की यात्रा के कुछ मुहर लगाने पड़ते हैं।

यह मुहर क्या है? आज तक जो कर्म संसार के लिये करते थे, वही अब भगवान को प्रसन्न करने के लिये करने लगे। जो कर्म आज तक स्वार्थ संग्रह के लिये करते थे, वही अब लोकसंग्रह के लिये करने लगे। कर्म वही है किंतु उद्देश्य बदलते ही अब वह हमारी भीतर की यात्रा का टिकिट बन गया।[२]

आइये अब थोड़ा इस बात पर भी विचार कर लें कि किन बातों से किन गुणों से हमारा कर्म भीतर की यात्रा का टिकट बन सकता है। या कहें बन जाता है। तथा वे कौन सी बातें हैं जो हमारे कर्मों में गलत मुहर लगाकर उसे बाहर की यात्रा का टिकिट बना देती हैं और हमें विनाश के गर्त में ढकेल देती हैं। इनको भी जानना बहुत आवश्यक है क्योंकि इनसे बचे बिना हम अपने कर्मों में भीतर की यात्रा की मुहर कभी भी नहीं लगा सकेंगे। इसलिये इन्हें अच्छी तरह पहिचानना होगा।

पहिले उन दोषों को ही देख लें, जो हमें भीतर की यात्रा नहीं करने

---

२. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।। ४५/१८ गीता
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। ४६/१८ गीता

देते। उल्टे हमें एकदम बाहर की ओर घसीटते हैं। कोई पाँच हजार साल पहले और वह भी लड़ाई के मैदान में भगवान ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में वे दोष बताये। वैसे तो उन दोषों की लंबी तालिका उन्होंने बतायी, किंतु तीन विशेष दोष बताये जो मानो हमारी आत्मा का नाश ही कर देते हैं।[३] इनको भगवान ने नरक का द्वार कहा। ये दोष हैं काम, क्रोध व लोभ। इनके रहते हमारी भीतरी यात्रा पारमार्थिक यात्रा कभी नहीं हो सकती। तब क्या करें? कहाँ से प्रारंभ करें, पहली बात हम देखें कि हम किसके आधीन हैं? कौन सी वासना हम पर हावी है, हमें गुलाम बनाये हुए है। उसका पता लगते ही हमें सत्संग करना चाहिये, ऐसे लोगों का, जो इन वासनाओं से छूटने का प्रयत्न कर रहे हैं। सत्संग के साथ दूसरी अत्यंत महत्वपूर्ण बात है दुस्संग का त्याग। सत्संग भले ही न मिल पाया हो, किंतु दुस्संग का, ऐसे लोगों का जो इन वासनाओं में डूबे हुए हैं, उनमें रचे-पचे हैं, उनके संग का तत्काल त्याग करना चाहिये। दुस्संग त्याग किये बिना सत्संग का लाभ नहीं मिल सकता। सत्संग सुलभ न हो तो सद्‌ग्रंथ, सद्‌विचार का आश्रय लेना चाहिये। सत्कर्म करने चाहिये। इन उपायों से हम इन दोषों से बच सकते हैं।

इनके अतिरिक्त भीतर की यात्रा का और एक महाशत्रु है अहंकार। अहंकार भी हमें भीतर की यात्रा नहीं करने देता। वह इतना बड़ा हो जाता है कि भीतर की यात्रा का द्वार ही बंद कर देता है। अतः यात्री को सदैव इस पर नजर रखनी चाहिये। ज्योंही इसने सिर उठाया कि उसे दबाना चाहिये। शुरू में ही यदि इसे न दबाया गया, तो बाद में यह बहुत कष्ट देता है।इसी प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, कपट आदि बहुत सी बाधायें हैं, जिनके विषय में हम जानते ही हैं अतः उनकी चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है।

अब यह देखें कि कौन से गुण हमारे कर्मों को भीतर की यात्रा का टिकिट बना देते हैं। उस पर वह मुहर लगा देते हैं जो कि हमें भीतरी यात्रा का अधिकारी बना देता है। भगवान कृष्ण ने गीता में २६ गुणों की सूची दी है और उसे दैवी संपदा कहा है। इन गुणों को अपने जीवन में लाने पर, उन पर आचरण करने पर यात्री भीतर की यात्रा का अधिकारी हो जाता है, या यों कह लें कि उसे भीतर की यात्रा का पास मिल जाता है। इन गुणों

---

३. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तमादेतत् त्रयं त्यजेत।। २१/१६ गीता

का अपने चरित्र में विकास करने पर वह भीतर की यात्रा पर निरंतर बढ़ता चलता है। उसे अन्य किसी बात की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसका मार्ग सरल हो जाता है और यथासमय वह गंतव्य पर पहुँच जाता है। यह 'पास' हम सबको मिल सकता है, किन्तु उसका मूल्य देना होगा, तभी वह हमें मिल सकेगा।

उन सभी गुणों की चर्चा तो इस प्रबंध में संभव नहीं है, किन्तु अत्यंत संक्षेप में कुछ विशेष गुणों का विचार कर लिया जाय। क्योंकि इन गुणों का विकास कर लेने पर अन्य गुणों का विकास अपेक्षाकृत सरल हो जाता है।

अभय – पहिला है अभय। सुनने में बड़ा सरल सा शब्द है, किन्तु इस गुण का विकास विचार करके प्रयत्नपूर्वक ही करना पड़ता है। हम देखते हैं कि भय प्राणीमात्र में है। प्रकृति ने रक्षाकवच के रूप में प्राणीमात्र को भय दिया है। संकट में पड़ने पर, आघात-चोट आदि की आशंका होने पर सभी प्राणी स्वाभाविक रूप से भयभीत होते हैं। किंतु यही भय जब अति हो जाता है, विकृत होकर ग्रन्थि बन जाता है। तब यह हमारी जीवनयात्रा में एक महान बाधा सिद्ध होता है। अग्नि से सुरक्षा के लिये उससे एक निश्चित मात्रा में भयभीत होना आवश्यक है, किंतु मान लीजिये कोई व्यक्ति किसी घटना विशेष आदि के कारण आग से इतना भयभीत हो जाय कि कहीं भी दूर से ही आग की लपट देखकर घबड़ा जाय। उसकी मति मारी जाय, तो यह भय उसके व्यक्तित्व के विकास में एक बहुत बड़ी बाधा हो जायेगा और इस प्रकार उसकी यात्रा रुक जायेगी या अत्यन्त धीमी हो जायेगी।

भविष्य का भय – यह भय की एक बड़ी विकृति है। बहुत से लोग इस विकृति से पीड़ित होते हैं। भगवान की कृपा से वर्तमान अच्छा है। शरीर अच्छा है, स्वास्थ्य अच्छा है, जीविका की व्यवस्था अच्छी है फिर भी भविष्य में क्या होगा इस बात की व्यर्थ चिन्ता इतनी अधिक सताती है कि मन भय से काँपने लगता है। उसके कारण वर्तमान ही बिगड़ जाता है। लोग ज्योतिषियों, सामुद्रिकों, भविष्यवक्ताओं आदि के पीछे घूमते रहते हैं। इस प्रकार का अकारण और काल्पनिक भय जीवनयात्रा की एक बहुत बड़ी बाधा है। इसे हमें अवश्य ही दूर करना चाहिये। इसी प्रकार के और भी अनेक अकारण और काल्पनिक भय हमारे मन में घुस जाते हैं। जीवनयात्रा में सफल होने के लिये उन्हें दूर करना नितान्त आवश्यक है। इतना ही नहीं धीरे-धीरे हमें मृत्यु के भय से भी छूटना होगा।

मन की निर्मलता – दूसरा अत्यंत महत्वपूर्ण गुण जिसका हमें अपने चरित्र में विकास करना है, जो गुण हमारे अनेक दोषों और दुर्गुणों को दूर कर देता है वह है मन की निर्मलता। मन को निर्मल या साफ करने का अर्थ ही है उसे सभी दोषों-दुर्गुणों, कामना-वासनाओं से रहित करना। इस एक ही गुण के विकास से हम अनेक उन्नत हो सकते हैं। जीवनयात्रा में बहुत आगे बढ़ सकते हैं। अतः इस गुण के लिये हमें विशेष प्रयत्नशील होना चाहिये।

स्वाध्याय – भीतर की यात्रा टिकिट पर एक और महत्वपूर्ण मुहर है, जो उस टिकिट को अत्यन्त मूल्यवान बना देती है, वह है स्वाध्याय। विद्वानगण स्वाध्याय के दो अर्थ बताते हैं – एक तो आध्यात्मिक व धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन और दूसरा अपने स्वयं का अध्ययन, आत्म-निरीक्षण। दोनों अर्थों में स्वाध्याय करना चाहिये। सद्‌ग्रंथों का अध्ययन, मनन, चिन्तन आदि करने पर हम बहुत से उच्च विचारों तथा आध्यात्मिक तत्वों से परिचित होते हैं, जो जीवन को उन्नत बनाकर हमारी जीवनयात्रा को सफल करने में बड़े सहायक हैं। उसी प्रकार आत्मनिरीक्षण के द्वारा हम स्वयं के गुण दोषों से परिचित होते हैं। फिर हम अपने दोषों को दूर कर गुणों का विकास करने में समर्थ होते हैं। इस तरह स्वाध्याय हमारी जीवनयात्रा में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

तप – जीवनयात्रा की टिकिट की एक और महत्त्वपूर्ण मुहर है – 'तप' या 'तपस्या'। तप के कई अर्थ हैं। उसका एक महत्वपूर्ण अर्थ है किसी ऊँचे उद्देश्य के लिये, अच्छे कार्य के लिये कष्ट सहन करना। परिश्रमपूर्वक कार्य करना। जब भी हम कुछ अच्छे कार्य करने जाते हैं, तो उनमें कठिनाइयाँ, बाधा-विघ्न आते हैं। कार्य की सफलता के लिये हमें उन कठिनाइयों को दूर करना पड़ता है, परिश्रमपूर्वक कार्य करना पड़ता है। ऐसा करना तप है, तपस्या है। जीवन में किसी भी महत कार्य के लिये निरंतर परिश्रम करना तप है। प्रत्येक यात्री को तप का गुण अवश्य अर्जित करना चाहिये।

संक्षेप में यही जीवनयात्रा का वृत्तांत है। जीवन की सफलता के लिये इस यात्रा के विविध आयामों को अवश्य जानना चाहिये। उनका उचित और सम्यक ज्ञान जीवन को समृद्ध और सफल बनाने के लिये आवश्यक है। जो व्यक्ति इस यात्रा के विभिन्न आयामों से जितना अधिक परिचित होगा, उसका जीवन उतना ही अधिक विकसित एवं उन्नत होगा। सभी महापुरुषों का जीवन इस तथ्य का साक्षी है । (समाप्त)

हरविलास सारदा की स्मृतियों में स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

अनेक शताब्दियों से बालविवाह की प्रथा हिन्दू समाज के लिए अभिशाप सी रही है और इसके परिणामस्वरूप हमारे देश में अनेक प्रकार के समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। यदि किसी एक व्यक्ति ने इसके निवारण के लिए सर्वाधिक प्रयास किया, तो वे थे श्री हरविलास सारदा। सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य के रूप में उन्हीं के अथक प्रयास के फलस्वरूप सितम्बर १९२९ में बालविवाह निरोधक अधिनियम पास हुआ और १ अप्रैल १९३० से लागू भी हो गया। उनका नाम इस अधिनियम के साथ ऐसे अभिन्न रूप से जुड़ गया कि तभी से यह कानून 'सारदा ऐक्ट' के नाम से सुपरिचित है।

श्री सारदा का जन्म ३ जून, १८६७ ई. को अजमेर में हुआ था। १८८८ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी.ए. की डिग्री हासिल करने के बाद अपनी युवावस्था में ही उन्होंने एक स्कूली शिक्षक का जीवन अपनाया। उनकी अभिरुचि बहुमुखी थी। तरुणावस्था में ही वे आर्यसमाज तथा इसके महान नेताओं के सम्पर्क में आये और आजीवन इस आन्दोलन के साथ जुड़े रहे। १८९३ ई. से लेकर अपनी मृत्यु (१९५५ ई.) तक वे आर्यसमाज की परोपकारिणी सभा के सचिव रहे। अपने सुदीर्घ जीवन के दौरान वे समाज-सुधार, राजनीति, शिक्षा तथा दर्शन के क्षेत्रों में सक्रिय रहे। राजस्थान के इतिहासकारों में उनका विशेष स्थान है। उन्होंने विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें १९०५ ई. में प्रकाशित 'हिन्दू सुपीरियारिटी' (हिन्दू जाति का श्रेष्ठत्व) काफी महत्वपूर्ण है। १९२९ ई. में उन्होंने 'भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सभा' की अध्यक्षता की। अपनी देशभक्ति तथा विद्वता के चलते इस शताब्दी के पूर्वार्ध के दौरान वे पूरे भारत में सुप्रसिद्ध रहे। डी. ए. वी. कॉलेज, अजमेर के वे प्रतिष्ठाता थे। एक सामान्य शिक्षक के रूप में जीवन आरम्भ करके, बाद में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य किया और अन्ततः जोधपुर उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश भी हुए।

स्वामीजी के राजस्थान भ्रमण के दौरान युवा हरविलास सारदा उनके निकट सम्पर्क में आए थे। तीन या चार बार उन्हें स्वामीजी के साथ मिलने-जलने तथा निवास करने का सौभाग्य मिला था। इस प्रकार लगभग

४० दिनों तक स्वामीजी के सान्निध्य का श्री सारदा के व्यक्तित्व तथा भावी जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसका हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। इस सम्पर्क के फलस्वरूप निश्चय ही उनके विचारों में काफी परिपक्वता एवं उदारता आयी होगी। स्वामीजी विषयक उनके संस्मरण सर्वप्रथम हमें अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के फरवरी १९४६ के अंक में प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त १९५४ या ५५ में प्रकाशित 'Recollection and Reminiscences' (स्मृतियाँ और संस्मरण) पुस्तक में अपनी दैनन्दिनी के आधार पर उन्होंने स्वामीजी-विषयक अपनी स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। यहाँ पर हम इन्हीं दोनों स्रोतों से उनके तत्कालीन संस्मरणों का संकलन तथा अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। इस वर्णन में हमें स्वामीजी के परिव्राजक जीवन की एक अन्तरंग झलक दिख पड़ती है। श्री सारदा लिखते हैं –

"अपने एक मित्र छालेसर के ठाकुर मुकुन्दसिंह का निमन्त्रण पाकर १८८९ ई. (?१८९१ ई.) के जून में मैं भारत का सुप्रसिद्ध पुण्यतीर्थ आबू पहाड़ देखने गया। ठाकुर मुकुन्दसिंह गर्मी का मौसम बिताने के लिये आबू में जाकर निवास कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर मैंने पाया कि स्वामी विवेकानन्द भी ठाकुर मुकुन्दसिंह के पास ठहरे हुए थे। ठाकुर मुकुन्दसिंह एक आर्यसमाजी तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुयायी थे। आबू में अपने मित्र के निवास पर स्वामी विवेकानन्द के साथ मैं लगभग दस दिनों तक रहा। उन दिनों मैं २१ वर्ष का था और स्वामीजी के व्यक्तित्व से मैं बड़ा प्रभावित हुआ। उनकी आँखें बड़ी बड़ी थीं और धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर वे धाराप्रवाह बोलते थे। वे बड़े विद्वान थे तथा उनकी बातें बड़ी आनन्ददायी होती थीं। दिन में और शाम को आबू के सूर्यास्त प्वाइंट तथा अनाद्र प्वाइंट तक टहलने जाते समय हमारे बीच सुदीर्घ चर्चा होती थी।

पहले दिन रात को भोजन के पश्चात् ठाकुर साहब के अनुरोध पर स्वामीजी ने एक भजन गाया। अत्यन्त मधुर स्वर में उनका गायन सुनकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैं उनके गायन पर मुग्ध था और प्रतिदिन उनसे एक या दो गीत सुनाने का आग्रह किया करता था। उनके संगीतमय कण्ठ तथा (आत्मीयतापूर्ण) व्यवहार ने मेरे मन पर अमिट प्रभाव डाला। कभी कभी हम लोग वेदान्त पर भी चर्चा करते। मुझे भी इस विषय का थोड़ा ज्ञान था। स्वामीजी के वेदान्त-विषयक विचार मुझे बड़े रुचिकर लगे। मैं

प्रत्येक विषय पर उनके विचारों का स्वागत करता, क्योंकि वे देशभक्ति की भावना से परिपूर्ण रहा करते थे। मातृभूमि तथा हिन्दू संस्कृति के प्रति प्रेम उनमें कूट-कूटकर भरी थी। उनके सान्निध्य में बिताए हुए दिन मेरे जीवन के सर्वाधिक आनन्दमय दिनों में हैं। उनके व्यक्तित्व की स्वाधीनता ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया।"

माउण्ट आबू में स्वामीजी पहले तो एक निर्जन गुफा में निवास करते थे, तदुपरान्त वे किशनगढ़ राज्य के एक मुसलमान वकील के साथ रहने को चले आए, और भी बाद में सम्भवतः उन्होंने जाकर ठाकुर मुकुन्दसिंह के घर में भी निवास किया था। श्री सारदा ने उसी काल की घटनाओं का चित्रण किया है। खेतड़ी राज्य के वाकयात रजिस्टर में भी २४ जून, १८९१ के दिन आबू में राजा अजितसिंह के बँगले में महाराजा, स्वामीजी, ठाकुर मुकुन्दसिंह तथा हरविलास के आपस में वार्तालाप का उल्लेख है।

स्वामीजी से श्री सारदा की दूसरी भेंट लगभग पाँच माह बाद हुई, जिसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है – "कलकत्ता के श्रीरामकृष्ण परमहंस के सुप्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द १३ नवम्बर को अजमेर पधारे और २५ नवम्बर तक वहाँ रहकर ब्यावर चले गये थे। इस बार दो दिनों के लिए मेरा आतिथ्य ग्रहण करने के बाद वे छालेसर (अलीगढ़) के ठाकुर मुकुन्दसिंह के पास चले गये, जो उन दिनों अजमेर में ही निवास कर रहे थे, स्मरण आता है कि मेरे पूछने पर उन्होंने बताया था कि श्रीरामकृष्ण परमहंस से संन्यासी के रूप में दीक्षित होने के पूर्व उनका नाम मन्मथनाथ (? नरेन्द्रनाथ) दत्त था। मेरे पिता की चिकित्सा के विषय में उन्होंने कलकत्ते के एक चिकित्सक (कविराज) का नाम दिया था।

"मैं जिनके सम्पर्क में आया ऐसे महानतम विद्वानों में से एक श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा उन दिनों अजमेर में ही निवास करते थे, परन्तु स्वामीजी के आगमन के समय वे बम्बई गये हुए थे। उनके लौटने पर मैंने उन्हें स्वामी विवेकानन्द की विद्वत्ता, वाग्विदग्धता तथा देशभक्ति से अवगत कराते हुए बताया कि वे दो-तीन दिन पूर्व ही यहाँ से गये हैं और इस समय ब्यावर में हैं। अगले दिन पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा को ब्यावर जाना था और उन्होंने वादा किया कि वे स्वामीजी को अपने साथ लेकर अजमेर लौटेंगे। अगले दिन वे स्वामीजी के साथ अजमेर वापस आये। स्वामी विवेकानन्द

चौदह-पन्द्रह दिनों तक उनके मेहमान रहे और मैं प्रतिदिन श्यामजी के बँगले पर उनसे मिलने जाया करता था। शाम के समय हम तीनों एक साथ टहलने जाते, इन दो विद्वानों के सान्निध्य में मेरे जीवन का सर्वाधिक आनन्दमय काल बीता। ...मुझे भलीभाँति याद है कि स्वामीजी के साथ हमारी बातें अत्यन्त रोचक हुआ करती थीं। उनकी वाग्मिता, राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण तथा आनन्दमय स्वभाव ने मुझे बड़ा प्रभावित तथा हर्षित किया। जब श्यामजी तथा स्वामीजी संस्कृत साहित्य अथवा दर्शनशास्त्र के किसी विषय पर चर्चा करते, तब मैं प्रायः मौन श्रोता ही रहा करता था।

"नवम्बर-दिसम्बर १८९१ ई. की मेरी दैनन्दिनी में लिपिबद्ध टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इन दिनों मैं प्रायः प्रतिदिन ही स्वामीजी से मिला और धर्म, समाजशास्त्र, राजनीति, साहित्य, दर्शन आदि सभी प्रकार के विषयों पर उनके साथ चर्चा की।" श्री सारदा की दैनन्दिनी में इस काल की कुछ प्रविष्टियाँ इस प्रकार हैं - "बाबा विवेकानन्द एक सुशिक्षित, सूक्ष्म ज्ञान से सम्पन्न तथा परम मेधावी युवक हैं। वे एक भले आदमी हैं। उनमें एक नेता बनने की योग्यता है, परन्तु उस ओर रुझान नहीं है; उनकी ललाट पर सन्तोष का भाव झलकता है। सम्भव है बाद में उनमें परिवर्तन आए और वे इस तरफ उत्साही हों। भगवान उनकी सहायता करें।

"उनका कहना है कि वे युक्ति के परे जा चुके हैं। उनकी बातें मेरे लिए परम रुचिकर हैं और मैं उन्हें बड़ा पसन्द करता हूँ। वे एक परम आनन्दमय संगी हैं। यदि मैं बड़ी भूल नहीं कर रहा हूँ तो वे दुनिया में कुछ होकर रहेंगे।

"स्वामी विवेकानन्द आए और मेरे पिताजी के साथ दो घण्टे तक बातें की। तदुपरान्त हम सबने रात का भोजन किया। उनका कहना है कि वे वेदान्तवादी हैं। उनका गायन बड़ा मधुर है।"

२४ नवम्बर १८९१ की प्रविष्टि में है – "स्वामीजी ने मुझे निम्न लिखित पुस्तकें पढ़ने की सलाह दी - हर्बर्ट स्पेन्सर का 'प्रथम-सिद्धान्त', काण्ट, हेगेल, काम्टे, बौद्ध साहित्य, टिण्डल की पुस्तक और टामसन द्वारा लिखित उसका उत्तर।"

अगली प्रविष्टि है – "स्वामीजी के पास गया और उनके साथ बातें

की। निर्वाण पर और यशोधरा को पहली बार देखकर तथा बाद में काले व सुनहरे अवगुण्ठन में देखकर बुद्ध पर जो प्रभाव हुआ एवं बुद्ध ने उसकी जो व्याख्या की थी, उस पर चर्चा हुई। यह व्याख्या 'आत्मा' की व्यक्तिगत सत्ता – एक ईकाई के रूप में जीवात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करती है। निर्वाण के सिद्धान्त से इसका विरोध है। स्वामीजी ने यथासम्भव इसकी अच्छी तरह से व्याख्या की, परन्तु मैं सन्तुष्ट नहीं हो सका। सम्भव है ध्यान के द्वारा इस समस्या का हल हो जाय। उन्होंने कुछ भजन भी गाए।"

२५ नवम्बर को उन्होंने अपनी दैनन्दिनी में लिखा है – "प्रातःकाल आठ बजे स्वामी विवेकानन्द मेरे घर आए। हमने जलपान किया, बातें की, फिर ठाकुर मुकुन्दसिंह के यहाँ गये और दोपहर को सवा बारह बजे मैं स्वामीजी को विदा करने रेल्वे स्टेशन गया। वे ब्यावर चले गये और बाद में गुजरात की ओर प्रस्थान करेंगे।"

१२ दिसम्बर, १८९१ को उन्होंने लिखा – "श्यामजी कृष्ण वर्मा के घर गया, फिर उनके तथा स्वामी विवेकानन्द के साथ दूर तक टहलने गया; विविध विषयों पर - विशेषकर माल्थस के सिद्धान्त तथा संन्यासी द्वारा धन स्वीकार न करने की प्रथा पर चर्चा हुई। पं. श्यामजी इसके विरोधी थे और स्वामीजी उसके पक्ष में बोलते रहे। श्यामजी ने कहा कि स्वामी दयानन्द ने इस प्रथा में सुधार करके इसे दृढ़तर भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। रात का भोजन हो जाने के पश्चात् वेदान्त, जनसंख्या और कारणवाद व स्वाधीन इच्छा के सिद्धान्त पर बातें हुई, विशेषकर इन प्रश्नों पर कि 'क्या मनुष्य अपनी परिस्थितियों के अधीन है?' और 'मनुष्य के जीवन में भाग्य का क्या स्थान है?' स्वामीजी ने कहा, 'जगत् इन्हीं के द्वारा नियन्त्रित हो रहा है।' और श्यामजी ने इसका विरोध किया।

"जहाँ तक मुझे स्मरण आता है मैं एक बार और उनसे अजमेर में ही मिला था। तब वे दो-एक दिनों के लिए वहाँ आए थे। उन दिनों वे शिकागो के विश्व धर्ममहासभा में जाने की तैयारी में लगे थे और खेतड़ीनरेश से आर्थिक सहयोग की अपेक्षा कर रहे थे। कुछ दिनों बाद मैंने सुना कि वे अमेरिका चले गये हैं। इसके बाद मेरा उनसे मिलना नहीं हो सका, परन्तु जब मैंने 'पायोनियर' में पढ़ा कि उन्होंने शिकागो के सभी प्रतिनिधियों पर अद्भुत प्रभाव का विस्तार किया है, तो मुझे बड़े गर्व का

अनुभव हुआ था। जब वे अजमेर में मेरे या श्यामजी के अतिथि के रूप में ठहरे थे, उस समय मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि शीघ्र ही एक विश्वविख्यात् व्यक्ति के रूप में उनका उदय होने वाला है।...उन दिनों भी मैं उन्हें एक असाधारण व्यक्ति के रूप में देखता था, परन्तु विभिन्न विषयों पर उनके वार्तालाप तथा विदग्धतापूर्ण व्याख्याओं को मैंने लिखकर नहीं रखा। उनके व्यक्तित्व के तीन तत्त्वों – सहज स्वभाव, मधुर संगीत तथा स्वाधीन व निर्भय चरित्र ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया।"

हरविलास सारदा के उपरोक्त संस्मरण लगभग आधी शताब्दी के पश्चात् लिपिबद्ध हुए थे, अतएव उनमें तथ्यों एवं तिथियों की छोटी मोटी असंगति आ जाना स्वाभाविक है, तथापि उनमें स्वामीजी के भ्रमणकाल की दिनचर्या की एक दुर्लभ झाँकी हमें देखने को मिल जाती है।

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

१.	प्रकाशन का स्थान	-	रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिकता	-	त्रैमासिक
३-४.	मुद्रक एवं प्रकाशक	-	स्वामी सत्यरूपानन्द
५.	सम्पादक	-	स्वामी विदेहात्मानन्द
	राष्ट्रीयता	-	भारतीय
	पता	-	रामकृष्ण मिशन, रायपुर
	स्वत्वाधिकारी	-	रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)

स्वामी सत्यरूपानन्द

कर्म का दर्शन

स्वामी आत्मानन्द

कर्म तो हम सभी को अनिवार्य रूप से करना ही पड़ता है। कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना नहीं रह सकता। तो क्या ऐसे कर्मों के पीछे भी किसी प्रकार का दर्शन हो सकता है?

गीता में कर्म के दर्शन पर सम्यक रूप से विचार हुआ है। जब हम जीवन की भूल-भूलैया में भटक जाते हैं, तब गीतोक्त कर्म-दर्शन मार्ग दर्शक बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जब हम आलस्य से अकर्मण्य बन जाते हैं अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने कर्त्तव्य-कर्मों को छोड़कर दूर भाग जाना चाहते हैं, तब कर्म-दर्शन हमें कर्म की प्रेरणा देता है। कर्म के दर्शन को योगशास्त्र भी कहा गया है। योगशास्त्र का तात्पर्य उस आध्यात्मिकता से है, जो केवल सैद्धान्तिक न हो, प्रत्युत जीवन में गतिशील भी हो सके, व्यावहारिक बन सके।

कई लोगों का मत है कि सामान्य गृहस्थों को कर्म के दर्शन पर विचार करने की झंझट नहीं उठानी चाहिये। यह एक गलत तर्क है। वास्तव में जो भी व्यक्ति कर्म करता है, उसी के लिये कर्म-दर्शन प्रयोजनीय है। गीता की पृष्ठभूमि को देखिये। जब अर्जुन के मन में वैराग्य की भावना आती-सी प्रतीत होती है और वे हाथ का कार्य छोड़कर कहीं दूर जंगल में चले जाना चाहते हैं, तब ऐसे समय में कृष्ण उलाहना के स्वर में अर्जुन से कहते हैं कि ऐसे विषम समय में यह कायरता तुम्हें क्योंकर प्राप्त हुई। वे अर्जुन को तरह-तरह से युद्ध के लिये प्रेरित करते हैं।

कर्म का दर्शन मानवमात्र को यह सीख देता है कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य से डिगना नहीं चाहिये। कुछ परिस्थितियों के कारण यदि कोई व्यक्ति सहसा अपनी मनोवृत्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने लगता है, तो समझना चाहिये कि वह अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म नहीं कर रहा है। इस प्रकार का कर्म ही परधर्म कहलाता है। मनुष्य यदि निष्ठा के साथ अपने कर्म में लगा रहे, तो धीरे-धीरे उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती जाती है। कोई भी कर्म अपने आप में नीचा या ऊँचा नहीं है, मनुष्य की दृष्टि ही कर्म को निम्न या उच्च बना देती है। कर्म का दर्शन कहता है कि सम्भव है कि कोई कर्म बाहरी रूप से श्रेष्ठ दिखे, पर यदि उस कर्म का करनेवाला निम्न

या विपरीत भावों से भरा हो, तो वह कर्म उस व्यक्ति के सन्दर्भ में कभी भी उच्च नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, हो सकता है कि कोई कर्म ऊपर से निकृष्ट मालूम पड़ता हो, पर यदि कर्त्ता का मनोभाव उच्चकोटि का है, तो वह कर्म श्रेष्ठ बन जाता है। कर्म के दर्शन का निचोड़ यह है कि प्रत्येक कर्म को यज्ञस्वरूप बना लो। जिस प्रकार् यज्ञ के लिये वेदी की आवश्यकता होती है, हवन्न-कुण्ड का प्रयोजन होता है, उसमें आहुतियाँ देनी पड़ती हैं, ऐसा कुछ भी इस कर्म-यज्ञ में नहीं करना पड़ता। इसमें तो कर्त्ता का शरीर ही मानो वेदी है; ईश्वर का स्मरण ही हवन-कुण्ड है और समर्पण-भाव ही आहुतियाँ हैं। जब हम ईश्वर को समर्पित करते हुए जीवन के कर्मों को करते हैं, तो वे कर्म हमें बाँध नहीं पाते – **ब्रह्मणि आधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिव अंभसा।** हमारी स्थिति जल में रहनेवाले कमल के पत्ते के समान हो जाती है। कमल का पत्ता जल में रहता तो है, पर उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार हम संसार में रहकर नानाविध कर्मों में व्यापृत तो रहते हैं, पर उनसे लिप्त नहीं हो पाते। कर्म-दर्शन की यह सबसे बड़ी सीख है। इसी को गीता का कर्मयोग भी कहा गया है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तत् शृणु।। (१८/४५)
यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

अर्थात अपने-अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य संसिद्धि को पा लेता है। कैसे पा लेता है, यह तू मुझसे सुन ! जिस परमात्मा से समस्त चराचर जगत् उत्पन्न हुआ है और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उसकी अपने कर्मों के द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है।

बड़ी अद्भुत बात कह दी श्रीकृष्ण ने। कर्मों से पूजा करने को वे कहते हैं। हमने धूप-चन्दन, फल-फूल आदि से ईश्वर की पूजा करने की बात तो सुनी थी, पर गीता में हम एक नयी बात सुनते हैं - अपने कर्मों के द्वारा भगवान की पूजा करनी चाहिये।

यह कर्मों के द्वारा पूजा किस प्रकार होती है? उसका क्या तात्पर्य है? यही कि कर्म तो किये जाओ, पर उसके फल को भगवान को समर्पित कर दो। इससे कर्मों में स्वाभाविक रूप से रहने वाले दोष कर्त्ता को व्याप नहीं

पाते। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि चोर चोरी करे और पापमुक्त होने के लिये सोचे कि मैं इसका फलाफल ईश्वर को समर्पित करता हूँ, दुराचारी व्यक्ति दुष्कर्म करे और ईश्वर-समर्पण की आड़ ले ले। नहीं, कर्म-दर्शन का तात्पर्य वह नहीं है। यह मनुष्य को कर्मों का फलाफल ईश्वर के चरणों में सौंप देने के लिये तो कहता है, पर साथ ही यह भी बता देता है कि कर्म के अन्य रूप भी होते हैं जिनसे हमें बचकर चलना पड़ता है। गीता की भाषा में -

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्रमोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।

कृष्ण कहते हैं, "हे अर्जुन, अकर्म क्या है, इस सम्बन्ध में तत्वज्ञ मुनि भी कुछ ठीक से नहीं कह पाते। इसलिये मैं तेरे सामने कर्म की चर्चा करूँगा, जिसके तत्त्व को जानकर तू अशुभ से तर जायेगा। हे पार्थ, कर्म क्या है, यह जान लेना चाहिये। विकर्म और अकर्म किसे कहते हैं, यह भी समझ लेना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति बड़ी गहन है।"

सचमुच कर्म का रहस्य दुर्बोध-सा प्रतीत होता है। भगवान कृष्ण इसके तीन रूप बताते हैं -(१) कर्म (२) अकर्म और (३) विकर्म। विकर्म विपरीत कर्म को कहते हैं - ऐसे कर्म जो शास्त्र-निषिद्ध हैं और जिनको समाज बुरी निगाह से देखता है। अकर्म जड़ता या आलस्य को कहते हैं। कर्म करते समय हमें उसके इन दो रूपों से बचना पड़ता है - हम आलसी भी न बनें और मर्यादा का भी उल्लंघन न करें। विकर्म और अकर्म से अपने को बचाते हुये जीवन के कर्त्तव्य-कर्मों को करना और उनका फलाफल भगवान् पर छोड़ देना यही कर्म का दर्शन है। गीता का कर्मयोग वह रसायन है, जो कर्म के द्वारा स्वाभाविक रूप से होनेवाले बन्धन को काट देता है। इसी को कार्य की कुशलता कहते हैं। गीता इसी को योग कहती है - **योगः कर्मसु कौशलम्**।

श्रीरामकृष्णदेव उदाहरण के रूप में बताते हैं - कटहल को काटने की कुशलता इसमें है कि उसका दूध हाथों में न चिपके। शहद के छत्ते से मधु निकालने की कुशलता इस बात में है कि मधुमक्खियाँ हमें काट न खायँ। ठीक इसी प्रकार कर्म की कुशलता तब होती है, जब कर्म तो किये जायें, परन्तु कर्म का बन्धन कर्त्ता पर न लग सके।

परन्त यह सधे किस प्रकार? कर्म का दर्शन जीवन में उतरे किस प्रकार?

सुनो, भगवान रामकृष्ण क्या कहते हैं ! कहते हैं -"बड़े घर की दासी के समान रहो"। यही उपाय है। बड़े घर की दासी बाबू का सारा काम-काज सँभालती है। बाबू के बच्चे को नहलाती है, सँवारती है, भोजन कराती है, घुमाने ले जाती है, 'मेरा राजा बेटा' कहकर दुलारती है। बाबू का बच्चा कहीं गिर पड़े, तो दासी 'मेरा लल्ला, मेरा मुन्ना' कहती हुई दौड़ पड़ती है, बच्चे को उठा लेती है और उसे पुचकारती है, प्यार करती है। पर वह अपने मन में यह खूब जानती है कि बाबू जिस दिन नोटिस दे देंगे, उस दिन से वह घर की दहलीज पर भी पैर नहीं रख सकेगी। जिसे आज 'मेरा लल्ला, मेरा मुन्ना' कहकर गोद में उठाती है, उसे तब छू भी नहीं सकेगी। वह खूब जानती है कि उसका लल्ला, उसका मुन्ना, उसका राजा बेटा झोपड़ी में पड़ा रो रहा होगा। तो क्या अपने बाबू के बच्चे के प्रति दासी जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वह सब दिखावा है? नहीं, वह दिखावा नहीं है, दासी सचमुच ही बच्चे को प्यार करती है, परन्तु उस प्यार में आसक्ति नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि ममत्व, मेरापन या आसक्ति के बिना भी प्रेम करना सम्भव है और वही यथार्थ प्रेम है। आसक्तिरहित प्रेम में ही कर्म के विष से बचाने की शक्ति निहित है।

इसीलिये श्रीरामकृष्ण उपाय बताते हैं – "बड़े घर की दासी के समान रहो।" घर-गृहस्थी है, स्त्री-पुत्र-कलत्र हैं, कोई दोष नहीं । सोचो कि ये सभी भगवान् के दिये हुए हैं, अतएव वे भगवान् के ही हैं। सबको अपना कहो। प्रेम दिखाओ सबके प्रति। पत्नी को मेरी प्रिये कहो, पति को मेरे प्रियतम कहो, बच्चों को मेरे लाल, मेरी मुन्नी कहो – कोई दोष नहीं । पर हृदय के अन्तर्तम प्रदेश में यह जाने रखो कि वास्तव में इनमें से कोई भी मेरा अपना नहीं – सब भगवान के हैं। जिस दिन भगवान् का नोटिस आयेगा, कोई मेरा न रह जायेगा। सब मुझे छोड़कर चले जायेंगे, या मैं ही सबको छोड़कर चला जाऊँगा। वास्तव में यदि कोई मेरा अपना है, तो वह है ईश्वर। यदि कोई मेरी झोपड़ी है तो वह है प्रभु के चरण। यह ज्ञानदीप भीतर जलाये रहो। यही संसार में रहने का रहस्य है। यही बड़े घर की दासी के समान संसार में रहना है। मन पर इस विचारधारा का बारम्बार संस्कार डालना ही कर्मयोग का अभ्यास अथवा कर्म-दर्शन का व्यवहार कहलाता है।

जब यह अभ्यास सध जाता है तब सब कुछ ईश्वरमय हो जाता है। किसी प्रियजन की मृत्यु हो गयी – वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि किसी कार्य में सफलता मिली तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। यदि कोई कार्य न

सधा, तो वह भी ईश्वर की इच्छा है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे कर्म-दर्शन के फलस्वरूप साधक निष्चेष्ट हो जाय, आलसी व अकर्मण्य होकर कहने लगे कि प्रयत्न से क्या होगा, सब तो ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। प्रत्युत् इसका अर्थ यह है कि मनुष्य क्रियाशील बने, वह प्रबल कर्मपरायण हो। यदि कोई मृत्यु की शय्या पर पड़ा हो, तो उसे बचाने के लिये अथक प्रयत्न करे और अगर न बचा सके, तो कहे कि ईश्वर की इच्छा! कार्य की सिद्धि हेतु जी-तोड़ परिश्रम करे, पर यदि सफल न हो, तो कहे– ईश्वर की इच्छा! यही रसायन है जो कर्म-विष को चूस लेता है। हम अपना सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर सौंप देते हैं, इसीलिये दुःख हमें नहीं व्यापता। मुनीम साहूकार के व्यापार को चमकाने की चेष्टा करता है। यदि साहूकार को घाटा हो गया, तो मुनीम दुःखित तो अवश्य होता है, पर घाटे का दुःख उसे व्याप नहीं पाता, क्योंकि घाटा और लाभ उसका अपना नहीं, साहूकार का है, इसी प्रकार संसार मेरा नहीं, ईश्वर का है, परिवार मेरा नहीं, ईश्वर का है, मैं तो एक मुनीम हूँ, भृत्य हूँ – यह एक कर्मयोगी की भाषा है और यही कर्म के दर्शन का मर्म है।

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मादाम काल्वे

(स्वामीजी के सम्पर्क में आकर सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी गायिका मादाम काल्वे का जीवन किस प्रकार पूर्णतः रूपान्तरित हो गया था और उन्होंने स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से प्रस्तुत है उन्हीं के रोचक तथा प्रेरणादायी संस्मरणों का अविकल हिन्दी अनुवाद - सं.)

ईश्वर के वास्तविक सान्निध्य में रहनेवाले एक व्यक्ति से परिचित होना मेरे लिए अत्यन्त सौभाग्य तथा आनन्द की बात थी। वे एक सत्पुरुष, एक सन्त, एक दार्शनिक और एक सच्चे मित्र थे। मेरे आध्यात्मिक जीवन पर उनका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने धार्मिक विचारों तथा आदर्शों को उदारता तथा विविधता प्रदानकर और सत्य के विस्तृत स्वरूप की शिक्षा देकर मेरे मानस-नेत्रों के समक्ष नये परिदृश्य खोल दिये। मेरी अन्तरात्मा चिरकाल के लिए उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

ये असाधारण व्यक्ति वेदान्त-सम्प्रदाय के एक हिन्दू संन्यासी थे। स्वामी विवेकानन्द उनका नाम था और वे अपनी धार्मिक शिक्षाओं के लिए अमेरिका में सर्वत्र सुपरिचित थे। एक वर्ष मेरे शिकागो निवास के दौरान वे वहीं व्याख्यान दे रहे थे और चूँकि उन दिनों मैं शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अत्यन्त विषादग्रस्त थी, यह देखकर कि कैसे उन्होंने मेरे कुछ मित्रों की सहायता की है, मैंने भी उनके पास जाने का निश्चय किया।

मेरे लिए उनसे साक्षात्कार का समय ले लिया गया था और जब मैं उनके निवास पर पहुँची, तो मुझे तुरन्त ही उनके अध्ययन-कक्ष में पहुँचा दिया गया। अन्दर जाने के पूर्व मुझसे कहा गया था कि उनके पूछने के पूर्व मैं कुछ न कहूँ। अत: कमरे में प्रविष्ट होकर मैं क्षण भर चुपचाप खड़ी रही। वे उस समय शान्त भाव से ध्यान की मुद्रा में बैठे थे। उनका गैरिक वस्त्र सीधा फर्श तक लटक रहा था, सिर पर पगड़ी सामने की ओर थोड़ी झुकी हुई तथा दृष्टि भूमि की ओर थी। थोड़ी देर बाद वे दृष्टि को बिना उठाये हुए ही कहने लगे, "बेटी, तुम क्या ही अशान्त परिवेश से घिरी हुई हो! शान्त हो जाओ! यह बड़ा आवश्यक है!"

इसके पश्चात् मेरे नाम तक से अपरिचित उन व्यक्ति ने अनुद्वेग तथा उदासीनतापूर्वक मेरे जीवन की गोपनीय समस्याओं तथा चिन्ताओं के बारे में अनेक बातें कहीं। उन्होंने ऐसी बातें भी बताईं, जो शायद मेरे परम

अन्तरंग मित्रों तक को ज्ञात न थीं। लगा कि यह तो अद्भुत है, अलौकिक है! आखिरकार मैंने पूछ ही लिया, "आपको यह सब कैसे मालूम हुआ? किसने आपको मेरे बारे में बताया है?" मृदु हास्य के साथ उन्होंने आँखें उठाकर मेरी ओर देखा, मानो मैं एक शिशु के समान कोई निरर्थक प्रश्न कर बैठी होऊँ। सौम्यता के साथ वे कहने लगे, "किसी ने मुझे नहीं बताया है। और बताने की आवश्यकता भी क्या है? मैं खुली किताब के समान तुम्हारा अन्तर पढ़ सकता हूँ।"

आखिरकार मेरे लौटने का समय हो गया। मेरे उठकर खड़े होने पर वे बोले, "बीती बातों को भूल जाओ। पुनः आनन्द और उत्साह के साथ जीवन यापन करो। एकान्त में बैठकर दुखद प्रसंगों का चिन्तन मत करो। अपनी भावनाओं का उदात्तीकरण करके उन्हें विविध प्रकार से बाह्य अभिव्यक्तियाँ प्रदान करो। तुम्हारे आध्यात्मिक जीवन के लिए इसकी आवश्यकता है और तुम्हारी कला के लिए भी यह जरूरी है।" उनके शब्दों तथा व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर मैं वापस लौटी। ऐसा लगा मानो उन्होंने मेरे व्याधिग्रस्त मन की सारी कुण्ठाओं को दूर करके उसे पवित्र एवं शान्तिमय भावों से परिपूर्ण कर दिया हो। उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के प्रभाव से मेरा मन विश्वास तथा आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। उन्होंने मुझ पर किसी प्रकार की सम्मोहन आदि शक्ति का प्रयोग नहीं किया था। बल्कि उनके चरित्र की दृढ़ता एवं उनके उद्देश्य की निर्मलता व निश्छलता ने ही मेरे मन में श्रद्धा की भावना जगा दी थी। उनके साथ अपना परिचय घनिष्ठतर हो जाने पर मैंने देखा कि वे धैर्यपूर्वक लोगों की विशृंखल तथा चंचल विचारधारा को शान्त करके उसे अपने भावों के ग्रहणयोग्य बना लेते थे और इसी कारण लोग उनकी बातों पर पूरा ध्यान दे पाते थे।

उपदेश देते समय वे बहुधा दृष्टान्तों का सहारा लेते और कवित्वमय उपमाओं के माध्यम से हमारे प्रश्नों के उत्तर में अपने वक्तव्य को बोधगम्य बना देते थे। एक दिन हम लोग आत्मा के अमरत्व तथा व्यक्तिगत विशेषताओं के स्थायित्व पर चर्चा कर रहे थे। वे अपनी शिक्षा के मुख्य अंग पुनर्जन्मवाद की व्याख्या करने लगे। मैं कह उठी, "यह भाव मैं बिल्कुल भी सहन नहीं कर सकती! नगण्य हो तो भी अपना 'मैं'-पन मुझे चाहिए। मैं एक शाश्वत एकत्व में लीन होना नहीं चाहती। ऐसी कल्पना तक मेरे लिए भयावह है।" उत्तर में स्वामीजी ने कहा, "एक दिन पानी की

एक बूँद महासागर में गिर पड़ी। अपने को ऐसी अवस्था में देखकर वह तुम्हारी ही भाँति रोने और शिकायत करने लगी। महासागर उस जलबिन्दु की ओर देखकर हँसने लगा और बोला, 'तू रो क्यों रही है? जब तू मुझमें मिल गयी, तो जिन बूँदों से मिलकर मैं बना हूँ, अपने उन भाई-बहनों से भी मिलकर तू स्वयं ही समुद्र बन गयी है। यदि तू मुझसे अलग ही होना चाहती है, तो रवि की रश्मियों के सहारे बादलों में चली जा और फिर बूँद के रूप में बरसकर तृषित धरती का कल्याण कर।''

स्वामीजी तथा उनके कुछ अन्य मित्रों और अनुरागियों के साथ मैं तुर्की, मिस्र तथा ग्रीस के एक अत्यन्त उल्लेखनीय दौरे पर गयी। हमारी टोली में स्वामीजी, फादर हायसिंथ लायसन, बॉस्टन की उनकी पत्नी, शिकागो की एक आकर्षक व उत्साही महिला कुमारी मैक्लाउड और दल की गायिका के रूप में मैं भी थी।

क्या ही अद्‌भुत थी वह तीर्थयात्रा! स्वामीजी के लिए विज्ञान, दर्शन तथा इतिहास के कोई भी रहस्य अज्ञात न थे। मेरे चारों ओर जो ज्ञान-गर्भित तथा विद्वत्तापूर्ण चर्चाएँ हातीं, उन्हें मैं पूरे मनोयोग के साथ सुनती। मैं उन चर्चाओं में भाग लेने का प्रयास नहीं करती; परन्तु मैं अपनी रीति के अनुसार यथासमय गाया करती थी। सुविख्यात विद्वान तथा धर्मशास्त्री फादर लायसन के साथ स्वामीजी हर प्रकार के विषयों पर वार्तालाप किया करते। बड़े विस्मय की बात यह थी कि स्वामीजी जिन चर्च-सम्मेलनों की तिथि ठीक ठीक बता देते थे तथा जिन दस्तावेजों में से ठीक ठीक उद्धरण दे देते थे, फादर लायसन भी उनके बारे में निश्चित रूप से कुछ कह नहीं पाते थे।

ग्रीस में हम लोग एल्युसिस देखने गये। स्वामीजी ने हमें वहाँ के रहस्य समझा दिये। हमें एक वेदी से दूसरी वेदी तथा एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक ले जाते हुए, प्रत्येक स्थान पर उन्होंने प्राचीन प्रार्थनाओं की आवृत्ति करते हुए, पौरोहित्य की विधियाँ दिखायी तथा वहाँ होनेवाले अनुष्ठानों का भी वर्णन भी किया।

बाद में मिस्र की एक अविस्मरणीय रात के समय स्फिंक्स की छाया तले बैठकर अतीन्द्रिय राज्य के प्रेरणादायी शब्दों में बोलते हुए वे हमें फिर एक बार सुदूर अतीत में ले गए थे।

स्वामीजी सर्वदा ही, यहाँ तक कि सामान्य परिस्थितियों में भी अत्यन्त

रुचिकर प्रतीत होते थे। उनके कण्ठ में एक तरह की मोहिनी शक्ति थी, जो श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर लेती थी। ऐसा कितनी ही बार हुआ है कि रेल्वे स्टेशन के प्रतिक्षालय में विमुग्ध होकर उनकी बातें सुनते हुए हमें समय का बोध ही नहीं रहा और हमारी गाड़ी छूट गयी। वैसे कुमारी मैक्लाउड हम लोगों में सबसे सचेत थीं, परन्तु ऐसे अवसरों पर उन्हें भी समय का भान नहीं रह जाता था और इसके फलस्वरूप कभी कभी हमें अपने गन्तव्य से दूर किसी अत्यन्त असुविधाजनक स्थान में फँस जाना पड़ता था।

काहिरा में एक दिन हम लोग रास्ता भूल गये। शायद उस दिन हम लोग बातचीत में थोड़ा ज्यादा ही रम गये थे। हमने पाया कि हम एक ऐसे रास्ते पर आ पहुँचे हैं, जो गन्दगी और दुर्गन्ध से परिपूर्ण है और वहाँ अर्धनग्न महिलाएँ खिड़कियों से झाँक रही थीं तथा द्वारों पर खड़ी थीं। स्वामीजी इससे बेखबर थे, परन्तु अन्त में जब एक जीर्ण मकान के सामने एक बेंच पर बैठी कुछ महिलाओं ने उच्च हास्य के साथ उन्हें बुलाना शुरू किया, तब जाकर उनका इस ओर ध्यान गया। हमारी टोली की एक महिला ने शीघ्रतापूर्वक हमें वहाँ से निकाल ले जाने का प्रयास किया, परन्तु स्वामीजी धीरे-धीरे हमारी टोली से अलग हो गये और बेंच पर बैठी महिलाओं के पास जा पहुँचे। वे कहने लगे, "अहा बच्चियो! अहा अभागिनो! इन्होंने अपने सौन्दर्य के लिए अपना देवत्व बलिदान कर दिया है। अब इनकी हालत तो देखो!"

वे आँसू बहाने लगे। महिलाएँ मौन तथा लज्जित हो गयीं। उनमें से एक ने झुककर स्वामीजी के वस्त्र का किनारा चूम लिया और गदगद कण्ठ से स्पैनिश भाषा में बुदबुदाने लगी, "ईश्वरद्रष्टा मनुष्य! ईश्वरद्रष्टा मनुष्य! एक अन्य महिला ने लज्जा तथा भय से अभिभूत होकर सहसा अपने हाथों से अपना मुख ढँक लिया मानो वह अपनी संकुचित हो रही आत्मा को स्वामीजी की दृष्टि से बचाने का प्रयास कर रही हो।

यह अद्‌भुत भ्रमण ही मेरे लिए स्वामीजी के सान्निध्य का अन्तिम अवसर सिद्ध हुआ। इसके कुछ काल बाद ही उन्होंने सूचित किया कि उन्हें स्वदेश लौट जाना होगा। उन्हें बोध हो रहा था कि उनका अन्तकाल आसन्न है और वे उसी समुदाय के बीच लौट जाना चाहते थे, जिसके वे अगुआ थे और जिनमें उनके युवावस्था के दिन बीते थे। वर्ष भर बाद हम लोगों ने सुना कि उन्होंने देहत्याग कर दिया है। अपने जीवनग्रन्थ के किसी

भी पृष्ठ को उन्होंने व्यर्थ नहीं जाने दिया था। अपने शिष्यों को पहले से ही बतायी हुई तिथि को उन्होंने समाधिमार्ग से इच्छामृत्यु का वरण किया था।

कई साल बाद जब मैं भारत के भ्रमणं पर गयी, तो मेरी उस मठ को देखने की इच्छा हुई, जहाँ स्वामीजी ने अपने जीवन का अन्तिम काल बिताया था। उनकी माताजी मुझे वहाँ ले गयीं। वहाँ मैंने उनके समाधि के स्थल पर उनके एक अमेरिकी मित्र श्रीमती लेगेट द्वारा बनवाये हुए संगमरमर के सुन्दर स्मारक का दर्शन किया। मैंने देखा कि उस पर उनका नाम नहीं है। मैंने उन्हीं के एक गुरुभाई से इसका कारण पूछा। उन्होंने विस्मयपूर्वक मेरी ओर देखा और शालीनता के साथ जो कुछ कहा, वह मुझे आज भी स्मरण है, "वे इसके परे चले गये हैं।"

वेदान्तवादियों का विश्वास है कि हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व उन्हीं के पास अपनी सहज एवं मौलिक शुद्धता के साथ सुरक्षित हैं। उन लोगों के मन्दिर नहीं हैं, वे धर्मभाव को जाग्रत करनेवाले किन्हीं प्रतीकात्मक मूर्तियों या चित्रों की सहायता लिये बिना ही सहज शब्दों में प्रार्थना किया करते हैं। "हे अनाम! हे अरूप!" - कहकर वे अनिर्वचनीय ब्रह्म को सम्बोधित किया करते हैं।

स्वामीजी ने मुझे एक तरह का प्राणायाम करना सिखाया था। वे बताया करते थे कि ब्रह्माण्ड में व्याप्त दैवी शक्तियों को श्वास के माध्यम से अपने शरीर में प्रविष्ट कराया जा सकता है। बेलुड़ मठ के संन्यासिवर्ग ने सहज एवं आन्तरिक भाव के साथ हमारा स्वागत किया। एक कुटीर के सामने की लान पर मेजें लगाकर फूलों तथा फलों के साथ उन्होंने हमारी अभ्यर्थना की। नीचे महती गंगा बही जा रही थीं। गायकगण विचित्र वाद्यों के साथ मर्मस्पर्शी स्वर में अलौकिक विषादयुक्त भजन गा रहे थे। एक कवि ने दिवंगत स्वामीजी की स्तुति में तत्काल रचित एक करुणापूर्ण कविता का पाठ किया। अपराह्न का समय शान्तिपूर्ण ध्यानमय वातावरण में बीता।

इन सौम्य संन्यासियों के बीच मेरा जो समय बीता, वह चिर काल के लिए मेरी स्मृति में अंकित हो गया है। वे पुनीत, सुन्दर तथा अलौकिक क्षण मानो किसी अन्य श्रेष्ठतर तथा प्रबुद्ध जगत् से सम्बन्धित हैं।

स्वामी विवेकानन्द और आज का युवावर्ग

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज का यह महत्त्वपूर्ण लेख हमारे बँगला मासिक 'उद्बोधन' के माघ १३९५ (बं०) अंक में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत है वहीं से उसका हिन्दी भाषान्तर - सं०)

स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि बहती हुई नदी की धारा ही स्वच्छ, निर्मल तथा स्वास्थ्यप्रद रहती है। उसकी गति अवरुद्ध हो जाने पर उसका जल दूषित व अस्वास्थ्यकर हो जाता है। नदी यदि समुद्र की ओर चलते चलते बीच में ही अपनी गति खो बैठे, तो वह वहीं पर आबद्ध हो जाती है। प्रकृति के समान ही मानव समाज में भी एक सुनिश्चित लक्ष्य के अभाव में राष्ट्र की प्रगति रुक जाती है और सामने यदि स्थिर लक्ष्य हो, तो आगे बढ़ने का प्रयास सफल तथा सार्थक होता है। हमारे आज के जीवन के हर क्षेत्र में यह बात स्मरणीय है। अब इस लक्ष्य को निर्धारित करने के पूर्व हमें विशेषकर अपने चिरन्तन इतिहास, आदर्श तथा आध्यात्मिकता का ध्यान रखना होगा। स्वामीजी ने भी इसी बात पर सर्वाधिक बल दिया था। देश की शाश्वत परम्परा तथा आदर्शों के प्रति सचेत न होने पर विशृंखला-पूर्ण समृद्धि आयेगी और सम्भव है कि अन्ततः वह राष्ट्र को प्रगति के स्थान पर अधोगति की ओर ही ले जाय।

विशेषकर आज के युवावर्ग को, जिसमें देश का भविष्य निहित है, और जिसमें जागरण के चिह्न दिखाई दे रहे हैं, अपने जीवन का एक उद्देश्य ढूँढ़ लेना चाहिए। हमें ऐसा प्रयास करना होगा ताकि उनके भीतर जगी हुई प्रेरणा तथा उत्साह ठीक पथ पर संचालित हो। अन्यथा शक्ति का ऐसा अपव्यय या दुरुपयोग हो सकता है कि जिससे मनुष्य की भलाई के स्थान पर बुराई ही होगी। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि भौतिक उन्नति तथा प्रगति अवश्य ही वांछनीय है; परन्तु देश जिस अतीत से भविष्य की ओर अग्रसर हो रहा है, उस अतीत को अस्वीकार करना निश्चय ही निर्बुद्धिता का द्योतक है। अतीत की नींव पर ही राष्ट्र का निर्माण करना होगा। युवावर्ग में यदि अपने विगत इतिहास के प्रति कोई चेतना न हो, तो उनकी दशा प्रवाह में पड़े एक लंगरहीन नाव के समान होगी। ऐसी नाव कभी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचती। इस महत्वपूर्ण बात को सदैव स्मरण रखना

होगा। मान लो कि हम लोग आगे बढ़ते जा रहे हैं, पर यदि हम किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर नहीं जा रहे हैं, तो हमारी प्रगति निष्फल रहेगी। आधुनिकता कभी कभी हमारे समक्ष चुनौती के रूप में आ खड़ी होती है। इसलिए भी यह बात हमें विशेष रूप से याद रखनी होगी। इसी उपाय से आधुनिकता के प्रति वर्तमान झुकाव को देश के भविष्य के लिए उपयोगी एक लक्ष्य की ओर सुपरिचालित किया जा सकता है। स्वामीजी ने बारम्बार कहा है कि अतीत की नींव के बिना सुदृढ़ भविष्य का निर्माण नहीं हो सकता। अतीत से जीवनीशक्ति ग्रहण करके ही भविष्य जीवित रहता है। जिस आदर्श को लेकर राष्ट्र अब तक बचा हुआ है, उसी आदर्श की ओर वर्तमान युवा पीढ़ी को परिचालित करना होगा, ताकि वे देश के महान अतीत के साथ सामंजस्य बनाकर लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें।

मैं कह रहा था कि आधुनिकता कभी कभी हमारे सामने चुनौती के रूप में आ खड़ी होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक समाज राष्ट्रहित के लिए उसकी शक्ति का उपयोग करने के प्रयास में अन्धकार में भटकता रहता है। आधुनिकता की इस शक्ति को सुनियोजित महान लक्ष्य की ओर परिचालित करना होगा। इसी कारण स्वामीजी ने कहा है कि युवावर्ग के सम्मुख एक लक्ष्य स्थापित करना होगा और इस ओर ध्यान देना होगा कि युवकगण उत्साह तथा प्रेरणा के साथ अपनी क्षमता का सदुपयोग कर सकें। युवाशक्ति के भीतर जो सक्रियता एवं उद्दाम भावावेग देखने में आता है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे कुछ करने को उत्सुक हैं और यह उसी का लक्षण है। उनके नेतृत्व का भार जिनके ऊपर है, उन वयस्क लोगों को इस विषय में सोचना होगा। युवकों को केवल विधि-निषेध की सीमा में आबद्ध न रखकर, उन्हें स्पष्ट मार्ग दिखाना होगा। प्रायः देखने में आता है कि वयस्क लोगों को युवावर्ग के केवल दोष ही दिखाई देते हैं। वयस्कों का गलती यह है कि वे यह जानने का प्रयास नहीं करते कि युवक-युवतियाँ क्या सोचते हैं तथा क्या करना चाहते हैं। इसी कारण वयस्कगण युवावर्ग की आलोचना करते हैं। और इसके फलस्वरूप युवासमाज भी बड़ों की उपेक्षा करता है, उनकी परवाह नहीं करता। तब मामला आग से खेलने जैसी हो जाती है। जो आग घर में दीपक बनकर प्रकाश फैलाती है, वही सब कुछ जलाकर राख भी कर सकती है। यौवन के भीतर जो शक्ति है,

वह भली भी नहीं है और बुरी भी नहीं है, ठीक उपयोग करने पर वह कल्याणकारी होगी तथा दुरुपयोग करने पर विध्वंशक।

एक प्रचण्ड शक्ति को किसी सीमा के भीतर आबद्ध रखने पर उसमें विस्फोट हो जाता है। युवावर्ग के भीतर जो प्रबल प्राणशक्ति है, उसे ठीक पथ पर न चला पाने से जो संकट उत्पन्न होगा, उससे पूरा देश तथा समाज प्रभावित होगा। कभी कभी वयस्कों की अवस्था बद्ध तालाब के समान हो जाती है। वे सोचते हैं कि उन्हीं का सोचना सही है और अपने समय में वे जो कुछ करते आये हैं, आज के युवकों को भी वही करना चाहिए। अपनी युवावस्था की बातें यदि उन्हें स्मरण हों तो वे अवश्य ही स्वीकार करेंगे कि उनका वह काल भी संघर्षहीन नहीं था, उनमें भी उद्दाम तरंगें उठी थीं और जीवनपथ पर वे ज्यों ज्यों आगे बढ़ते गये, त्यों त्यों अनुभव के फलस्वरूप उनके दृष्टिकोण में थोड़ा थोड़ा परिवर्तन आता गया है। अतः प्राज्ञ वयस्क-गण यदि अपने पुराने अनुभवों के आलोक में वर्तमान युवावर्ग को देखें और उसी अनुभव के आधार पर सहानुभूति व ममता के साथ नवयुवकों के भाव समझने का प्रयास करें, तो इसका अच्छा फल होगा। दूसरी ओर युवकों को समझना होगा कि वयस्कों की भी उपयोगिता है। पिछले अनुभवों की एक धारा को हम वहन करते हैं, जिसे संस्कार कहा जाता है और यह संस्कार ही हमारी मानसिक प्रवृत्तियों का उद्गम है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का एक अतीत होता है, वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र का भी एक समष्टि अतीत होता है। पूरे राष्ट्र का जो पुँजीभूत अनुभव होता है, उसी की नींव पर वह अपने भावी प्रगति का एक मार्ग निर्धारित कर लेता है। आज जो तरुण हैं, उन्होंने अपनी यौवन की शक्ति से चलना आरम्भ किया है। इसीलिए अनुभवी वयस्कों को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि कहीं वे दिग्भ्रमित होकर अन्धे के समान भटक न बढ़ जायँ, पथभ्रष्ट न हो जायँ। पथप्रदर्शन नितान्त आवश्यक है और वह सतर्कता के साथ उनके सम्मुख रख देना होगा।

सुनने में आता है कि हमारे तरुणों में नैतिक मूल्यबोध का अभाव है, वे उद्दण्ड हैं, नास्तिक हैं, आदि बहुत कुछ उनके सम्बन्ध में कहा जाता है। सम्भवतः हम लोग जब तरुण थे, तो हमारे वयस्क लोग भी हमारे विषय में ऐसी ही बातें कहा करते थे। उनकी भी ऐसी धारणा थी कि उनका समय स्वर्णयुग था और अब हर जगह अवनति तथा पतन दिखाई दे रहा है।

फिर वर्तमान में हम लोग भी उन्हीं बातों की पुनरावृत्ति कर रहे है कि पहले अर्थात् हमारी युवावस्था में सब कुछ ठीक था, परन्तु अब सब कुछ बिगड़ चुका है। यदि ऐसा ही है तो वर्तमान पीढ़ी के जन्मदाताओं अर्थात् हम पर ही उनमें वह विश्वास तथा मूल्यबोध लौटा लाने का उत्तरदायित्व भी है।

स्वामीजी ने हमें सावधान किया है कि प्राचीन का विनाश करने से उज्ज्वल भविष्य का निर्माण नहीं होता। पुराना सब त्याज्य है, ऐसा दृष्टिकोण अनुदार तथा संकीर्ण है। एक नींव पर हम खड़े है और वह है हमारा अतीत। अतीत ने ही हमें वर्तमान तक पहुँचाया है और यह देखना वर्तमान पीढ़ी का कर्तव्य है कि हमारे भावी वंशधर और भी सुदृढ़ नींव पर खड़े हो सकें। इस विषय में सावधान रहना अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के सभी लोगों का कर्तव्य है। जीवन एक प्रवाहमान धारा है और राष्ट्रों का इतिहास भी वैसा ही है। अतीत से ही वर्तमान का उद्भव हुआ है। इसी प्रकार वर्तमान ही हमें भविष्य के द्वार तक पहुँचा देगा। बड़ी सावधानी तथा मनोयोग के साथ वर्तमान व अतीत इतिहास का अनुशीलन करके युवावर्ग का पथप्रदर्शन करना होगा और यह भी देखना होगा कि वह भविष्य के साथ सुसंगत हो। आधुनिकता की यही सबसे महत्वपूर्ण चुनौती है। तरुणाई की उद्दाम शक्ति तरुणों को अशान्त कर डालती है और उसे इस प्रकार परिचालित करना होगा कि उनकी यह शक्ति, प्रेरणा तथा उत्साह का सदुपयोग हो और वह राष्ट्र एवं समग्र विश्व के कल्याण में नियोजित हो।

स्वामीजी ने बताया है कि अतीत की दृढ़ भित्ति रहे तभी इस समस्या का उचित समाधान किया जा सकता है। परन्तु साथ ही यह भी देखना होगा कि अतीत कहीं तरुणों के विकास का पथ अवरुद्ध न कर दे। अतीत भी वर्तमान के साथ सामंजस्य रखकर ही अग्रसर हो। सम्भव है कि पहले के लोग कुछ मार्गदर्शन कर गये हों, उसमें कुछ फेरबदल किया जा सकता है, किन्तु पूर्णतया उस पथ को त्यागकर अलग पथ पर चलने का प्रयास उचित नहीं। स्वामीजी के मतानुसार इससे शक्ति का केवल अपव्यय होता है। उनका कहना है कि गंगा की धारा को बलपूर्वक उसके उद्गम गोमुख तक लौटाया नहीं जा सकता। तथापि उसे ऐसे ढंग से नियंत्रित किया जा सकता है कि वह समाज तथा देश के लिए कल्याणकारी हो। नहीं तो वह प्रवाह भले-बुरे सब कुछ को बहा ले जाएगी और विध्वंशक होकर भविष्य

के लिए घातक सिद्ध होगी। स्वामीजी का मत था कि अतीत के इतिहास से प्राप्त अनुभव तथा ज्ञान को आयत्त करके युवावर्ग भविष्य की समृद्धि के लिए उसका सार्थक ढंग से उपयोग करे। यही कार्य महत्वपूर्ण है।

युवावर्ग में अतीत के प्रति उदासीनता का भाव देखने में आ रहा है। समाज की व्यवस्था जैसी थी उससे वे सन्तुष्ट नहीं हैं। वे इसमें परिवर्तन चाहते हैं। उन्हें जो अनुभव प्राप्त हो रहे हैं, निश्चय ही वे उसी के आधार पर अतीत का मूल्यांकन करेंगे। परन्तु देश के विगत अनुभव के साथ सामंजस्य रखकर उनके अनुभव को भी संशोधित करने की आवश्यकता है। बहुमुखी, विश्वव्यापी अत्याधुनिक भावधारा का ग्रहण निन्दनीय नहीं है, अपितु ग्रहण की मानसिकता प्रसंशनीय ही है, परन्तु साथ की अपने पाँव के नीचे की मिट्टी को भूलने से काम नहीं चलेगा। और वह मिट्टी है भारत का इतिहास, भारत की असाधारण आध्यात्मिक शक्ति। प्रारम्भ से आध्यात्मिक जीवन ही इस देश का लक्ष्य रहा है। हम कहा करते हैं कि युवकगण इसके विरोधी हैं, जड़वादी हैं, उनका उद्देश्य जागतिक भोगसुख है; परन्तु यह भी पूर्णतः सत्य नहीं है। सम्भव है कि हम उन्हें ठीक ठीक परिचालित न कर सके हों, उनके सम्मुख एक ऐसा सुस्पष्ट आदर्श न रख सके हों, जिसकी ओर वे अपनी अदम्य प्राणशक्ति को प्रवाहित कर पाते। अतीत तथा भविष्य के बीच एक सुदृढ़ संयोगसूत्र की आवश्यकता है और युवावर्ग ही वह संयोगसूत्र है। वे जब अपनी आशा-आकांक्षाएँ व्यक्त करने का प्रयास करते हैं, तो सर्वदा उन्हें मना करना, रोक देना उचित नहीं। उन्हें इस प्रकार से शिक्षित कर लेना होगा कि वे देश के उज्ज्वल भविष्य को गढ़ डालने की आशा-आकांक्षा का पोषण करें और अतीत से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही ऐसी शिक्षा हम उन्हें दे सकेंगे। उसके बाद हम ध्यानपूर्वक देखेंगे कि वे किस प्रकार आगे बढ़ रहे हैं। इस तरह युवावर्ग को ठीक मार्ग पर चला पाने से देश अपने गौरवमय भविष्य की ओर अग्रसर होगा।

हम लोग बैलगाड़ी के युग से काफी दूर निकल आये है, सम्भवतः इस समय हम जेट युग की सीमा पर हैं और इसके बाद राकेट युग में भी पहुँचेंगे। तब हम केवल चाँद पर जाने की ही बात नहीं सोचेंगे, बल्कि एक ग्रह से दूसरे ग्रह और उसके भी पार जाने की बात सोचेंगे। तात्पर्य यह कि हम जहाँ हैं वहीं सीमाबद्ध नहीं रह सकते। प्राचीन ऋषियों ने कहा है -

'चरैवेति' – बढ़े चलो, हम प्रगति चाहते हैं। स्वामीजी ने कहा है कि लक्ष्य तक पहुँचे बिना रुको मत। उठो, जागो, अभीष्ट प्राप्त हुए बिना ठहरो मत। हम लोग आलस्य, प्रमाद, विलास, आराम में तन्द्रामग्न हैं। भूल रहे हैं कि हमें आगे बढ़ना है। वृद्ध हो जाने के कारण जो लोग अपनी शक्ति खो बैठे हैं, वे सोचते हैं कि कोई उनकी निद्रा में विघ्न न डाले और तरुणों का उद्दाम उत्साह उनकी इस शान्ति में बाधा डाल रहा है। परन्तु उन्हीं लोगों ने तो इन्हें जन्म दिया है; अतः ऐसा दृष्टिकोण उचित नहीं है। उन्हें यह स्मरण रखना होगा कि इन तरुणों को उनके पथ पर चलाना तथा अपने अनुभव से उनका पथप्रदर्शन करना उन्हीं का उत्तरदायित्व है। हमने अनेक गल्तियाँ की हैं। हमारे सुदीर्घ इतिहास में कई उत्थान-पतन हुए हैं। सभी राष्ट्रों के इतिहास में ऐसा चक्रवत उत्थान-पतन होता आ रहा है। कहीं भी निरन्तर समृद्धि देखने में नहीं आती। स्वामीजी कहते हैं कि उत्थान-पतन के बावजूद हमारी यह प्राचीन जाति अब भी जीवित है। अन्य अनेक जातियों का उत्थान हुआ, उन्होंने धूमकेतु के समान इतिहास के पन्नों को आलोकित किया और फिर धूमकेतु के समान ही क्षणिक आभा दिखाकर वे लुप्त भी हो गये, परन्तु हमारा देश अति प्राचीन है। यह विश्व के प्राचीनतम देशों में से एक है और इसके अतीत की अवहेलना नहीं की जा सकती। ऐसा इसलिए कि हमारे अतीत के दृष्टिकोण में एक प्रकार सुसंगति व स्थिरता थी और इसीलिए वह पृथ्वीतल से पूर्णरूपेण लुप्त नहीं हुआ। यूनान, रोम तथा मेसोपोटामिया आदि महान सभ्यताएँ कभी इतिहास के पन्नों में चमक रही थीं और फिर अब अदृश्य भी हो चुकी हैं, परन्तु भारत के मामले में ऐसा नहीं हुआ। भारतवर्ष की सनातन जीवनधारा आज भी अबाध रूप से प्रवाहित हो रही है। यदि कभी यह धारा अधोगामी हुई है, लगा है कि इस जाति का अब पृथ्वी से लोप हो जाएगा, तभी न जाने कहाँ से एक नवीन शक्ति का आविर्भाव होता है। उसी शक्ति के आधार पर भारत की प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा को बारम्बार पुनर्जीवन प्राप्त हो रहा है। भारत की प्राचीन आध्यात्मिक परम्परा उसकी सभ्यता की नींव के समान है। उसके प्रति अटल श्रद्धा रहे बिना किसी नवीन भवन का निर्माण नहीं किया जा सकता, करें तो भी वह स्थायी न होगा। यह भूलना हमारे लिए कभी भी उचित न होगा कि भारतवर्ष असाधारण ऊर्जा एवं असीम शक्ति का

आधार रहा है। और इसी कारण युवावर्ग के लिए अतीत का अनुशीलन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा ही वे समझ सकेंगे कि पहले हम क्या थे और उसी के आधार पर वे अपना भविष्य भी गढ़ डालने का प्रयास करेंगे। इससे भारत के प्राचीन विरासत के प्रति हमें गर्वबोध होगा और हम आश्वस्त भी हो जाएँगे। धनबल या बाहुबल को नहीं, बल्कि आध्यात्मिक बल को ही भारत सर्वाधिक महत्त्व देता आया है।

किसी किसी का कहना है कि धर्म ही हमारे जीवन के अधोगति का कारण है। स्वामीजी कहते है - तुम लोगों ने अतीत को और धर्म को ठीक से नहीं समझा। धर्म ने ही हमें जीवित रखा है और यदि हम धर्म को न भूले, तो अब भी वह हमारी रक्षा करेगा। स्वामीजी द्वारा बारम्बार उच्चरित उपनिषद् का सन्देश है – "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत** - उठो, जागो, लक्ष्य तक पहुँचे बिना रुको मत।" 'निबोधत' अर्थात् सत्य को जानो। अन्धकार से आलोक का प्राकट्य नहीं होता। अतीत के भारतवर्ष से प्रकाश का विकिरण हो रहा है और वही हमारा पथप्रदर्शक है।

इसीलिए तरुणों के प्रति स्वामीजी का आह्वान है - अपनी शक्ति को व्यर्थ बरबाद न होने देना। अतीत की ओर देखो; जिस अतीत ने तुम्हें अनन्त जीवनरस प्रदान किया है, उससे पुष्ट होओ। यदि अतीत की परम्परा का सदुपयोग कर सको, उसके लिए गौरव का बोध कर सको, तो फिर उसका अनुसरण कर अपना पथ निर्धारित करो। वह परम्परा तुम्हें दृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित करेगी और इसके फलस्वरूप तुम देखोगे कि देश सामंजस्यपूर्ण समृद्धि की दिशा में अग्रसर हो रहा है। इसी प्रकार अपेक्षाकृत अत्यल्प समय के भीतर लक्ष्य तक पहुँचा जा सकेगा। वैज्ञानिकगण नये नये उपायों से खोज में तरह तरह के परीक्षण-निरीक्षण किया करते हैं, परन्तु वे भी क्या उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त अतीत काल की प्रज्ञा पर निर्भर नहीं करते? अणु का आविष्कार आकस्मिक रूप से नहीं हो गया। अनेक युगों के अनेक वैज्ञानिकों के जी-तोड़ खोजों के बाद अन्ततः वर्तमान शताब्दी में आण्विक शक्ति के अस्तित्व का पता चला है। उसी प्रकार इस क्षेत्र में भी हमें अपने पूर्ववर्तियों के प्रयास को स्मरण रखना होगा।

स्वामीजी ने और भी बताया है कि उन्नति की प्रथम सीढ़ी स्वाधीनता है। स्वाधीनता के अभाव में हम बद्ध हो जाते हैं और इससे क्रमशः हमारा

विनाश अवश्यम्भावी हो जाता है। इसीलिए युवकों को पूर्ण स्वाधीनता देनी होगी, परन्तु इसके साथ ही उनके पथ के निर्धारण में सहायता भी करनी होगी। युवकों को केवल स्वामीजी यह चेतावनी याद रखने की आवश्यकता है कि वे युगों से संचित अनुभवों के भण्डार से दृष्टान्त लेकर लाभ उठायें। इस महान उत्तराधिकार को स्वीकार करना उनका परम सौभाग्य है।

युवकगण अशान्त तथा उद्दाम होते हैं, जो उनकी प्राणशक्ति का परिचायक है। उन्हें पग पग पर निषेध की डोरी से बाँधकर 'अच्छा लड़का' बनाये रखने से वे आगे नहीं बढ़ सकेंगे। बल्कि उन्हें और भी अशान्त होने को प्रोत्साहित करना होगा। हम कहीं उन्हें पीछे से पकड़े न रहें। नवीन बन्दरगाह की ओर उनकी यात्रा शुरू हो गयी है, उनके पाल में हवा लग रही है, वयस्कों का कार्य है उन्हें यात्रापथ में दृढ़ बनाये रखने में सहायता करना, ताकि वे कहीं दिशा न भूल जायँ। तभी आज के युवक हमारे अतीत की धरोहर को और भी समृद्ध कर सकेंगे। कहना न होगा कि इस मार्ग में स्वामीजी का आशीर्वाद तथा शुभकामनाएँ सदैव ही उनके साथ रहेंगी।

देश को नरेन्द्रनाथ चाहिये

मोरारी बापू

(रामकृष्ण आश्रम, ग्वालियर में प्रदत्त एक व्याख्यान से)

स्वामी विवेकानन्दजी की जन्मतिथि के उपलक्ष्य में हम इस पावन स्थान पर मिले हैं। इन महान विभूति की जन्मतिथि के अवसर पर के मैं चन्द शब्द कहूँगा। विवेकानन्दजी के माता-पिता अर्थात् उनके शरीर को जन्म देनेवाले कौन थे, यह तो आप जानते ही हैं। और उनकी चेतना को जन्म देनेवाले माँ सारदा तथा ठाकुर श्रीरामकृष्ण थे, यह भी पूरा संसार जानता है। संसार में किसी के शरीर का जन्म प्रारब्ध से हो जाता है, परन्तु उसकी चेतना का जन्म प्रारब्ध से नहीं, बल्कि किसी सिद्ध महापुरुष की साधना से ही हो पाता है। नरेन्द्र का जन्म साधारण माता-पिता से हो सकता है, परन्तु विवेक तो उन्हें सारदा-रामकृष्ण से ही मिला था। जीव को जिस चीज की सर्वाधिक आवश्यकता है, वह है 'विवेक'। आदि शंकराचार्य ने तो पूरा 'विवेक-चूड़ामणि' ही लिख दिया है। तो विवेक का सर्जन सरस्वती अर्थात् सारदा से होता है। मनुष्य के पास केवल सारदा हो तो भी विवेक प्रकट नहीं होता। सारदा के साथ रामकृष्ण भी चाहिए। आपने सरस्वती का चित्र देखा होगा। उनके हाथों में वीणा है, पुस्तक है और माला भी है। आदमी के पास यदि केवल पुस्तक हो, ज्ञान हो, परन्तु भजन न हो, तो विवेक जाग्रत नहीं होता। इसलिए नरेन्द्र में सारदा तथा रामकृष्ण के कारण ही विवेक जन्मा।

सप्त-ऋषियों में से कोई एक सितारा धरती पर आ गया और एक सिद्धपुरुष ने उसे इतना प्यार दिया। आप जानते ही होंगे कि जब नरेन्द्र उनसे पहले-पहल मिलते तो भागने की कोशिश करते, परन्तु ठाकुर उन्हें जबरन पकड़ने का प्रयास करते। ठाकुर का उनके प्रति इतना जबरदस्त प्रेम था और बाद में उन्होंने संन्यास की एक नयी मिशाल दुनिया के सामने पेश की। परवर्ती काल में केवल निवृत्ति तथा निष्क्रियता की जगह विवेकानन्द ने संन्यास को इतना क्रियाशील बना दिया कि अब संन्यासी निष्क्रिय हो ही नहीं सकता। **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** – इस घोषणा के साथ उन्होंने पूरे जगत् को जगाया। आज हम सारे संसार में देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के नाम से जुड़ी कितनी ही संस्थाएँ

कार्य में लगी हुई हैं। मैं तो यही कहूँगा कि इस मिशन के जितने भी साधु हैं, सब मशीन की भाँति काम में लगे रहते हैं। देश में कोई भी आपत्ति हो, विपत्ति हो, वे उसमें तत्काल कूद पड़ते हैं और यह विवेकानन्दजी की एक बहुत बड़ी देन है।

एक बार मैं वाशिंगटन में था। वहाँ स्वामीजी के नाम पर एक बहुत बड़ा आयोजन हुआ था और मुझे भी उसमें बुलाया गया था। वहाँ कई बड़े बड़े विद्वान विवेकानन्दजी को श्रद्धा अर्पित कर रहे थे। जब हमको बोलने का अवसर मिला, तो हमने इतना ही कहा कि आज भारत में ही नहीं बल्कि पूरे संसार में विवेकानन्द बहुत हैं, काम करनेवाले बहुत हैं। कोई यज्ञ के द्वारा, कोई सेवा के द्वारा, कोई गुणों के द्वारा – महात्मा लोग कई प्रकार से देश-विदेश में कार्य कर रहे हैं। लेकिन राष्ट्र को अब पुनः नरेन्द्र की जरूरत है। रामकृष्ण मिशन के जितने भी साधु आप देखते हैं इनकी भारतीय संस्कृति, वैदिक धर्म और परमात्मा में बड़ी निष्ठा है। ऐसी सेवा और सुमिरन को मिलानेवाले हैं ये महापुरुष! ये सेवा में जुट जाते हैं, न पूजा की और न ही किसी सम्मान की अपेक्षा है।

आदमी सुमिरन करे और सेवा भी करे। रामचरितमानस में लिखा है **"आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धर्म कठिन जग जाना।"** आप पाँच हजार रुपये देकर दाता बन सकते हैं, लेकिन सेवक नहीं बन सकते। आप एक लाख देकर दानी बन सकते हैं, लेकिन सेवक बनना कठिन है। रामकृष्ण मिशन की यह देन है और वहाँ सिखाया जाता है कि सेवा कैसे की जाती है। तो वाशिंगटन में मैं कह रहा था कि संसार को नरेन्द्र की जरूरत है। नरेन्द्र का सन्धि-विच्छेद करें, तो उसका अर्थ होता है - नरों में इन्द्र जैसा। ऐसे युवकों की जरूरत है, जो गौरव से पूर्ण हों, अस्मिता से भरे हों। भगवान की कृपा से, माँ सारदा की कृपा से छोटे-बड़े अनेक सन्त संसार को मिले हैं। जो लोग विवेकानन्द बन सकते हों, वे अवश्य बने, परन्तु बाकी लोग नरेन्द्र बनकर राष्ट्र के उत्थान में सहायक हों। आज हम विवेकानन्द की जन्मतिथि के अवसर पर भगवान से प्रार्थना करें कि संसार को ऐसे नरेन्द्र प्राप्त हों और वे संसार को अपनी सेवा प्रदान करें।

सेवा के लिए कभी सिंहासन नहीं प्राप्त होता। सेवा के लिए दुर्वासन होना चाहिए, मृगचर्म होना चाहिए। सेवा का अपना विशिष्ट आसन है।

जैसे चौकी के चार छोर हैं, वैसे ही सेवा के आसन के भी चार छोर हैं। पहला छोर है ममता। ममता से सेवा करो। माँ में ममता रहे, तो उसे बच्चे की सेवा सिखानी नहीं पड़ती। उस ममता के कारण वह मल-मूत्र तक साफ करती है। खुद गीले में सोकर भी वह बच्चे को सूखे में सुलाएगी। अतः ममता रहे तो सेवा स्वतः ही हो जाती है। आसन का एक कोना ममता है, तो दूसरा कोना समता है। ममता के साथ सेवा करें और फिर समता के साथ सेवा करें। जब समता का भाव आ जाता है, तब अपने-पराये का भाव मिट जाता है। भगवान बुद्ध जंगल से होकर जा रहे थे। उन्हें प्यास लगी थी और पनघट पर एक हरिजन बालिका जल खींच रही थी। संन्यासी के रूप में भगवान बुद्ध ने चुल्लू बनाकर उस बालिका से कहा, "मुझे जल पिलाओ।" उस हरिजन बाला ने कहा, "क्षमा करें महाराज, मैं हरिजन बाला हूँ।" इस पर बुद्धदेव ने कहा, "मैं जाति नहीं पूछता। मैंने जल माँगा है, मुझे प्यास लगी है, जल पिलाओ।" आपको तो बस सेवा करनी है, इसमें जाति-पाँति क्या और अपना-पराया क्या?

सेवा ममता से हो, सेवा समता से हो और सेवा का तीसरा कोना है नम्रता। सेवा नम्रता से हो। सेवा में जब अहंकार मिल जाता है, तो मानो अमृत में विष घुल जाता है। सेवा में सहजता है, ऋजुता है और सेवा का चौथा कोना है क्षमता। हम अस्पताल तो नहीं बनवा सकते, परन्तु सप्ताह में एक बार अस्पताल जाकर रोगियों की सुधबुध तो ले ही सकते हैं। हम कोई अन्नक्षेत्र नहीं खोल सकते, तथापि एक दिन किसी को अन्न तो परस ही सकते हैं। हम स्कूल या कॉलेज नहीं खोल सकते, लेकिन कुछ निर्धन छात्रों को कापियाँ-किताबें तो दिलवा ही सकते है। पूरे देश की सिंचाई तो इन्द्र देवता ही कर सकते हैं, लेकिन अपने आंगन के पौधों को तो हम सींच ही सकते हैं। इस प्रकार सेवा के चार क्षेत्र हुए। सेवा ममता से हो, सेवा समता से हो, सेवा नम्रता से हो और सेवा क्षमता से हो।

शिक्षा के क्षेत्र में स्वामीजी ने संसार को तीन वस्तुएँ दीं। उन्होंने शिक्षा दी, फिर दीक्षा दी और अन्ततः प्रेम की भिक्षा दी। शिक्षा तो कई संस्थाएँ देती हैं, परन्तु दीक्षा नहीं देतीं। दीक्षा यानी वृत्ति या संस्कार। आजकल डिग्रियाँ बहुत मिलती हैं, उपाधियाँ बहुत मिलती हैं, परन्तु संस्कार नहीं मिलते। आजकल स्कूलों-कॉलेजों में उपाधियाँ तो दी जाती हैं, परन्तु

समाधि भाव, सम्यक् भाव कहाँ है? आज विद्यार्थी स्कूल में जाता है, कॉलेज में जाता है, परन्तु उसकी केवल उम्र बढ़ती जाती है; न विवेक बढ़ता है, न ज्ञान बढ़ता है, न शील बढ़ता है और न बल बढ़ता है। जब वह कॉलेज में आया तो २२ वर्ष का था और अब २६ वर्ष का हो गया, बस इतना ही; जबकि पौराणिक परम्परा में शिक्षा प्राप्त करनेवाले छात्र जब अन्त में आचार्यों से दीक्षा और आशीर्वाद प्राप्त करते थे, तो आचार्य कामना करते थे – "**चत्वारः तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्** – पुत्र, मैं आशीष देता हूँ कि तेरी आयु, विद्या, यश तथा बल में वृद्धि हो।" स्वामीजी को भी एक ऐसे वीतरागी, अकिंचन, परम सिद्ध महापुरुष का आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जिसके कारण वे इतने मेधावी और अद्भुत बन सके।

आज स्वामी विवेकानन्दजी की जन्मतिथि के अवसर पर मैं कुछ शब्दों के माध्यम से उन्हें अपनी पुष्पांजलि समर्पित कर रहा हूँ। स्वामीजी एक संन्यासी थे, एक सफल साधु थे। साधु तो कई लोग बन जाते हैं, पर असमंजस में पड़ जाते है कि यह ठीक किया या नहीं। तो सफल कौन हो सकता है? भाइयो और बहनो! ये तीन बातें याद रखो। सफल वही हो सकता है, जो सबल होगा। सबल आदमी सरल भी होना चाहिए। विवेकानन्दजी सबल थे, सरल थे और इसीलिए सफल भी थे। जो सबल है, वह सरल हो जाए, तो वह सफल भी हो जाता है।

साधना और प्राणायाम

स्वामी शिवानन्द

भगवान अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति के उपाय को साधना कहते हैं। चाहे कोई भक्तिमार्ग का पथिक हो या ज्ञानमार्ग का, साधना सबके लिए आवश्यक है। साधना किये बिना कोई भी अपने अभीष्ट की प्राप्ति करने में सक्षम नहीं होता। जो लोग केवल द्वैतज्ञान का आधार लेकर विश्वास करते हैं कि भगवान विभिन्न मूर्तियों में गोलोक, शिवलोक, वैकुण्ठलोक आदि में निवास करते हैं और जिनका लक्ष्य देहान्त के बाद भगवत्कृपा से अपने अपने इष्टलोक में जाना है, ऐसे भक्तिमार्ग के पथिकों के लिए भी साधना आवश्यक है। उनके लिए पूजा, अर्चना, जप, ध्यान, भगवत्कथा-पाठ, सत्संग इत्यादि अवश्य करणीय है। वे लोग साधना में थोड़ा अग्रसर होते ही निर्जनवास पसन्द करने लगते हैं और बहुधा इन्द्रियों आदि का निरोध कर स्वतः ही इष्ट-चिन्तन में निमग्न हो जाते हैं। वे भगवान में पूर्णतः विलीन हो जाना नहीं चाहते, बल्कि अपना सेव्य-सेवक भाव बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु वे लोग उनके ध्यान में, नामजप में, भजन में, भगवच्चर्चा में तथा सर्वभूतों में भगवान को देखते हुए उनकी सेवा में आनन्द का उपभोग करते हैं। इससे यह भलीभाँति समझ में आ जाता है कि साधना के पूर्व उनकी जो धारणा थी कि भगवान विशेष विशेष रूपों में अपने विशिष्ट लोकों में निवास करते हैं और वे लोक इस जगत् से परे हैं यह धारणा क्रमशः परिमार्जित होती जाती है और अन्त में उन्हें ऐसी उपलब्धि होती है कि मनुष्य का हृदय ही उनका निवास है तथा वही वस्तुतः गोलोक, शिवलोक, स्वर्ग इत्यादि है। साधना के द्वारा चित्त की शुद्धावस्था प्राप्त होने पर भाग्यवान साधक अपने हृदय में ही भगवान का दर्शन करते हैं और तभी अपरिपक्व बुद्धि से उत्पन्न द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद का वाद-विवाद मिटता है और शान्ति की उपलब्धि हो जाती है।

ज्ञानमार्ग के पथिक, जो 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' अथवा 'नेति नेति' कहा करते है और 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति जिनका लक्ष्य है, वे 'गुरु-वेदान्त वाक्य में विश्वास', 'इहलोक या परलोक में किसी भी कर्मफल-भोग की आकांक्षा न रखना' और शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि की साध्नाना किया करते हैं। पूर्वोक्त भगवान के निवास स्वार्गादि में

जाना तथा सुखभोग आदि करना उनका उद्देश्य नहीं होता। इन लोगों के मतानुसार ये सब भी अनित्य हैं तथा मनोराज्य के अन्तर्गत आते हैं। ज्ञानी लोग मन के भी परे जाकर 'अवाङ्मनसगोचर' की उपलब्धि करना चाहते हैं। वे 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोका विशन्ति' वाली अवस्था नहीं चाहते। वे जानते हैं कि 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' अर्थात् 'इस जन्म में इसी शरीर में जो लोग जीव तथा ब्रह्म के एकत्व का दर्शन नहीं कर लेते, वे बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।' ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष सर्वजीवों में आत्मा को देखकर उनकी सेवा में लग जाते हैं। इन लोगों के द्वारा जगत् में महान कल्याणकारी कार्य सम्पन्न होते हैं।

इससे यह समझ में आ जाता है कि कोई चाहे किसी भी मार्ग से भगवत्प्राप्ति करने को प्रवृत्त हो, सबको साधना की आवश्यकता पड़ती है। भगवान या आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए प्राणायाम रूपी जो साधन है, मैं उसी विषय में कुछ कहूँगा। आजकल अनेक लोग शारीरिक स्वास्थ्य के लिए तथा अन्य कार्यों की सिद्धि हेतु भी प्राणायाम का अभ्यास करते हैं और सुनने में आता है कि ऐसे उपदेशक तथा शिक्षक भी उपलब्ध हैं। मेरा मत है कि इस प्रकार का शुष्क प्राणायाम महा अनिष्टकारी है और अनेक लोग 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा' होकर इससे प्रभावित हुए हैं तथा कोई कोई अकाल ही काल के मुख में भी जा पड़े हैं।

प्राणायाम शब्द को समझना अत्यन्त सहज है – इतना सहज कि समझाने से कोई भी इसे समझ सकता है। हम सभी प्रतिदिन अनजाने ही प्राणायाम किया करते हैं और इसे करना भी अति सहज है। जब तुम कोई अद्भुत घटना से पूर्ण कहानी की पुस्तक पढ़ते हो, या आग्रह के साथ किसी नवीन देश के इतिहास का अध्ययन करते हो अथवा एकाग्र चित्त से गणित की किसी दुरूह समस्या का समाधान करने में लगे रहते हो, तब तुम उसी में ऐसे डूब जाते हो कि कहानी खत्म हुए बिना या सवाल के हल हुए बिना तुम्हारी उठने की कतई इच्छा नहीं होती। ऐसे अवसरों पर यदि तुम अपनी श्वास की गति पर थोड़ा ध्यान दो तो देखोगे कि तब श्वास-प्रश्वास की गति काफी कम हो गयी है, वह बड़ी धीमी गति से चल रही है, मानो फेफड़ों में ही बहुत-सा श्वास रुका हुआ है। किसी दुखसूचक घटना को पढ़ते समय हृदय भारी हो उठता है और आनन्दसूचक घटना से हृदय मानो

उत्फुल्ल हो उठता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में श्वास-प्रश्वास रुद्धप्राय हो जाता है। यदि अधिक दुखजनक समाचार पढ़ने को मिले, तो सम्भव है अश्रुपात से हृदय का भार काफी कुछ कम हो जाय या फिर अत्यन्त आनन्द का उद्रेक होने पर तुम हँसी या आनन्दाश्रु बहाकर उसे बाहर निकाल देते हो। परन्तु इस बात की ओर तुम्हारा विशेष रूप से ध्यान जायगा कि दोनों ही अवस्थाओं में श्वास-प्रश्वास (जो प्राणवायु का कार्य है) काफी रुद्ध हो जाता है। इन उदाहरणों से यह भलीभाँति समझ में आ जाता है कि किसी खास विषय पर मन के एकाग्र होने पर श्वास-प्रश्वास का कार्य स्वाभाविक रूप से ही रुद्ध हो जाता है या अपने आप ही प्राणायाम होने लगता है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है – एकाग्र चित्त से पढ़ते या गणित के सवाल हल करते समय तुम ज्योंही श्वास की गति धीमी हुई है या नहीं यह देखने का प्रयास करोगे, त्योंही तुम्हारा मन पाठ या गणित से निकल आयेगा और देखोगे कि श्वास की गति पुनः सहज रूप धारण कर रही है। परन्तु तुम स्पष्ट समझ सकोगे कि श्वास रुद्ध भाव से चल रहा था और अब वह सहज हो गया है। पूर्वोक्त सिद्धान्त के साथ इस बात को मिलाकर देखने से यह बात समझ में आ जाती है कि मन किसी एक विषय में पूरी तौर से डूब जाने पर प्राणवायु अपने आप ही कुछ कुछ रुद्ध हो जाती है और भाव ही मुख्य तथा प्राण का निरोध गौण है। इस प्रकार हम प्रतिदिन अनजाने ही प्राणायाम किया करते हैं।

अब हम देखेंगे कि साधना-पथ में प्राणायाम कैसे होता है? यह भी क्या वैसे ही स्वाभाविक है या फिर कृत्रिम रूप से कुछ करना पड़ता है और साधना स्वयं भी स्वाभाविक है या नहीं?

इसका उत्तर यह है कि साधना स्वाभाविक है और शास्त्रों में साधना के जितने भी उपाय बताये गये हैं वे सभी स्वाभाविक हैं। जैसे भूख-प्यास शरीर का स्वाभाविक धर्म है, मनुष्यों द्वारा किये गये उनके निवारण के उपाय नाना प्रकार के होकर भी स्वाभाविक हैं। सभी प्राणी यथासमय भूख का अनुभव करते हैं। एक व्यक्ति को भोजन करते देखकर जिसका पेट भरा है, उसे कदापि भूख नहीं लगेगी। यदि लगती है तो समझना होगा कि उसका पेट भरा नहीं है, उसके भी भोजन का समय हो गया है, अतः उसका कर्तव्य है कि वह भी अपने साध्य के अनुसार प्रयास करके भोजन

कर ले। यदि किसी को भोजन करते देखकर कोई भूख न रहने पर भी खाना चाहे, तो उसे कृत्रिम उपायों से भूख पैदा करना पड़ता है और वह क्रमशः पीड़ाग्रस्त हो जाता है; जुलाब आदि का सहारा लेने से भी अन्त में प्रायः वही फल होता है। फिर यदि किसी को बिल्कुल भी भूख नहीं लगती, तो समझ लेना होगा कि उसे कोई रोग हुआ है और उसे चिकित्सा की आवश्यकता है। औषधि के सेवन से उसे लाभ होते भी देखा जाता है।

शरीर के क्षेत्र में जैसा है, अध्यात्म के क्षेत्र में भी ठीक वैसा ही है। जो लोग मनुष्य शरीर पाकर भी केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन अर्थात् सुखभोग में ही, स्वार्थ साधन में ही लगे रहते हैं, उन्हें मनुष्य देह भले ही मिला हो, परन्तु उनके भीतर अब भी पशुभाव विद्यमान है। जिनमें भगवच्चिन्तन या भजन, साधन, सत्संग, शास्त्रपाठ, दया, देशहितैषणा आदि नहीं है, वे लोग अब भी मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं हैं। अतएव उन लोगों को मनुष्य समाज के नियमों से चालित होने में कष्ट का अनुभव होता है और वे इसे कर भी नहीं पाते।

आहार, विहार, अध्ययन, मातापिता तथा गुरुजन की सेवा, सगे-सम्बन्धियों के प्रति सदाचरण - ये मनुष्य कहलानेवालों की स्वाभाविक आवश्यकताएँ हैं और सभी ऐसा किया भी करते हैं। उसी प्रकार धर्मसाधना भी मनुष्य की सहज आध्यात्मिक आवश्यकता है और मनुष्य नामधारी सभी लोग किसी-न-किसी प्रकार के धर्म का साधन किया करते हैं। कई सहज आध्यात्मिक प्रयोजन के अनुसार धर्म की साधना करता है, तो कोई दूसरा उनका आचरण देख अपना भी समय आया समझकर सरल भाव से साधना आरम्भ करता है, या कोई अन्य दूसरों की देखा-देखी समय आये बिना भी धर्मसाधना की इच्छा करता है और शरीर में कृत्रिम भूख उत्पन्न करने के प्रयास के समान ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी साधुसंग, शास्त्रपाठ, प्राणायाम आदि साधना-सम्बन्धी विभिन्न उपायों का सहारा लेता है, परन्तु हृदय में सच्ची कामना न होने के कारण दुर्भाग्यवश उसे ढोंगी गुरु भी मिल जाते हैं और शास्त्रों का गूढ़ मर्म न समझ पाने के कारण वह शुष्क प्राणायाम आदि करके शारीरिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है और धर्म पर आस्था खोकर अपना बहुत बड़ा नुकसान कर बैठता है। इस प्रकार उसका पूरा जीवन ही व्यर्थ चला जाता है। आध्यात्म के क्षेत्र में धर्म में अरुचि से

बढ़कर दूसरा कोई रोग नहीं, विशेषकर जिनकी काफी कुछ करने के बाद ऐसी अवस्था होती है, उनका रोग प्रायः असाध्य कहा जा सकता है, फिर एक अन्य श्रेणी के लोग भी हैं, जिन्हें ऐसी आध्यात्मिक बदहजमी हो जाती है कि हजारों लोगों को धर्म की साधना करते देखकर भी उन्हें धर्मसाधना के पास फटकने की इच्छा नहीं होती, परन्तु -

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनाऽन्यानपि तारयन्तः।। विवेकचूड़ामणि-३९

– "शान्त तथा संयमी महापुरुषगण वसन्त ऋतु के समान अयाचित भाव से लोककल्याण करते हुए निवास करते हैं। स्वयं इस घोर संसार-सागर से पार होकर वे अहैतुकी दया से वशीभूत होकर दूसरों का भी परित्राण करते रहते हैं।" ऐसे भवरोगवैद्य रूपी कोई महात्मा द्रवित होकर उनकी आध्यात्मिक अजीर्णता रूपी भवरोग की चिकित्सा के हेतु उनसे औषधि का सेवन करायें, तो वह उनके लिए निश्चित रूप से कल्याणकारी होगा। तब उनके अन्दर आध्यात्मिक भूख उत्पन्न हो सकती है।

गुरु द्वारा प्रदत्त नामजप तथा ध्यान ही साधना के प्रधान अंग हैं। गुरु या आचार्य की सेवा, सत्संग, सद्ग्रन्थ पाठ आदि के द्वारा गुरु-प्रदर्शित साधना के प्रति लगाव बढ़ता है और इस कारण मनोनिग्रह में भी सफलता मिलने लगती है। चाहे ज्ञानपथ हो, या भक्तिपथ, जप-ध्यान सभी मार्ग के साधकों के लिए अवलम्बनीय है। ज्ञानमार्गी प्रणव का और भक्तिमार्गी शिव, दुर्गा, हरि आदि अनेक प्रकार के नामों का जप किया करते हैं। प्रत्येक प्रकार के साधक सर्वदा भगवान का स्मरण-मनन करते हैं और इसके प्रमुख उपाय के रूप में प्रेमसहित नामजप भी किया करते हैं।

प्रश्न उठता है कि कौन सा प्राणायाम साधना के लिए उपयोगी है? क्या प्राणायाम करने से ही भगवत्प्राप्ति या आत्मानुभूति होती है? कदापि नहीं। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि जैसा लगाव माँ का सन्तान के प्रति, सती का पति के प्रति और कंजूस का धन के प्रति होता है, यदि किसी के भाग्य से वैसा ही लगाव भगवान के प्रति हो, तो उसे अति शीघ्र तत्त्वोपलब्धि हो सकती है। उसके हृदय में जब कभी यह व्यग्रता आती है, तब उसका प्राणवायु रुद्ध होने लगता है। उस अवस्था में साधक जप, ध्यान, भजन, शास्त्रपाठ आदि जो भी करता है, वह अतीव संयम तथा विशेष अनुराग के

साथ सम्पन्न होता है और प्राणवायु की इसी अवस्था को प्राणायाम कहते हैं। नहीं तो अनुराग, लगाव, प्रेम के बिना केवल श्वास रोकना और धीरे धीरे उसे छोड़ने मात्र से ज्ञान-भक्ति की प्राप्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। योगदर्शन में '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' तथा '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' – सूत्रों में चित्तवृत्ति के निरोध को योग तथा उस निरोध के समय द्रष्टा अर्थात् आत्मा का अपने स्वरूप में अर्थात् परमात्मा में अवस्थान होता है, ऐसा बताने के बाद क्रमशः इस अवस्था की प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन किया गया है। जो लोग अपने स्वरूप की खोज करने के इच्छुक हैं, केवल उन्हीं के लिए ये सारे उपाय बताये गये हैं। जिन लोगों ने गुरुसेवा, ब्रह्मचर्य तथा गुरु से सुने शास्त्रवाक्यों के अर्थ पर मनन द्वारा चित्तशुद्धि की अवस्था प्राप्त कर ली है, उन्हें स्वरूप का परोक्ष ज्ञान हो जाता है। तब वे क्रमशः ध्यान में निमग्न होने लगते हैं और उनका प्राणायाम अपने आप होने लगता है। अन्यथा अशुद्ध चित्त में तो स्वरूप तथा उसके बोध के उपायों के विषय में सदा संशय बना रहता है। स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होने पर समाधि होती है, जो प्राणायाम की पराकाष्ठा है और तब ध्याता, ध्यान, ध्येय – इन तीनों के पार्थक्य का बोध दूर हो जाता है।

सारांश यह कि हृदय की व्याकुलता के साथ भगवन्नाम का जप तथा स्मरण-मनन करने पर प्राणायाम अपने आप ही होता है। आध्यात्मिक जीवन में इसका फल असीम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यावहारिक जीवन में भी इससे मन की शक्ति में वृद्धि, चरित्र की शुद्धता, चित्त की उदारता, दया, दृढ़ता आती है अर्थात् ईश्वर की कृपा से उनके अनन्त ऐश्वर्य का कुछ अंश उनके भक्त में संचरित हो जाता है। श्रद्धा, भक्ति तथा सत्संग ही इसकी प्राप्ति का सहज उपाय है। सर्वप्रथम सत्संग की आवश्यकता है। भगवान की विशेष कृपा से ही इसकी प्राप्ति होती है। श्रुति का भी कहना है – **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** – उन्हें विशेष रूप से जानने के लिए समिधा यानी यज्ञकाष्ठ हाथ में लेकर वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।

(एक पुराने बँगला लेख का अनुवाद)